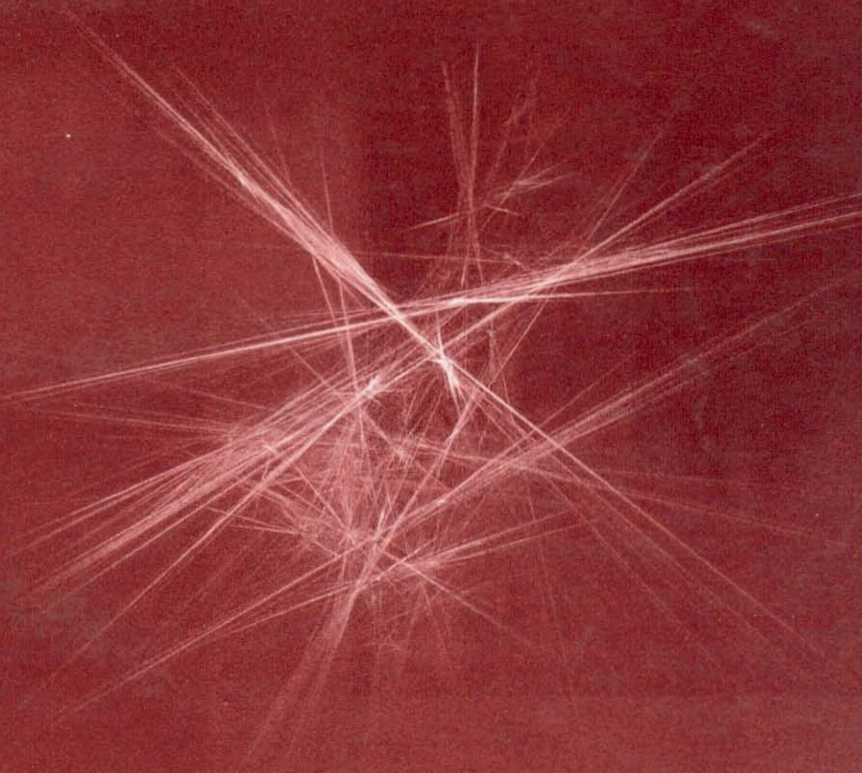
भारतीय दर्शन

सामान्य परिचय



राष्ट्रिय पंडित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी

भारतीय दर्शन

सामान्य परिचय

राष्ट्रिय पंडित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

BHARTIYA DARSHAN

by

Vrajvallabha Dwivedi

ISBN :81-7124-336-3

प्रथम संस्करण : २००३ ई०

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

फोन व फैक्स : (०५४२) २३५३७४१, २३५३०८२

E-mail : vvp@vsnl.com ● E-mail : sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-२२१००१

प्रस्तावना

आजकल भगवाकरण के नाम पर एक हजार वर्ष पहले तक किये गये समस्त भारतीय अवदानों को नकार दिया गया है। चतुर्दश विद्यास्थानों में चार वेद (ऋक्, यजुः, साम और अथर्व), छः वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष और छन्द) एवं पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र का समावेश होता है। अर्थशास्त्र में अन्तिम चार विद्यास्थानों में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति परिगणित हैं। यह वि...ग प्राचीन लगता है, क्योंकि यहाँ आन्वीक्षिकी में सांख्य, योग और लोकायत दर्शन गृहीत हैं, न्यायशास्त्र नहीं। महान् वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती ने अपने लघु-ग्रन्थ **प्रस्थान भेद** में ऊपर प्रथम निर्दिष्ट १४ विद्यास्थानों के साथ चार उपवेदों के रूप में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र का समावेश कर अष्टादश विद्यास्थानों का संक्षिप्त परिचय दिया है। यह शास्त्रों का निगमाधारित विभाग है।

आगमाधारित शास्त्रों का परिचय सर्वात्म शंभु की **सिद्धान्त प्रकाशिका**[१] में दिया गया है। यहाँ पहले लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्रिक भेद से पञ्चविध शास्त्रों की और तब प्रत्येक के पाँच-पाँच भेदों, अर्थात् पच्चीस शास्त्रों की चर्चा की गई है और उनमें से कुछ का परिचय भी दिया गया है। कामिकागम, नेत्रतन्त्र आदि में भी इनका उल्लेख मिलता है। बौद्ध तन्त्र वसन्त-तिलक में लक्षणशास्त्र, हेतुविद्या, आध्यात्मिकी विद्या, शिल्पशास्त्र और चिकित्सा-शास्त्र के रूप में पञ्चविध विद्यास्थान स्वीकृत हैं। सांख्य, योग, पाञ्चरात्र (वैष्णव), पाशुपत (शैव) और वेदारण्यक रूप में पञ्चविध शास्त्र कृतान्तपञ्चक के रूप में पुराण एवं धर्मशास्त्रीय निबन्धों में उल्लिखित हैं। इनके अतिरिक्त जैन और बौद्धधर्म-दर्शन का प्राकृत एवं पालि भाषा के अतिरिक्त संस्कृत भाषा का भी विशाल साहित्य उपलब्ध है।

वेद वर्तमान मानवजाति के आद्य ग्रन्थ माने जाते हैं। मौर्यकाल, शुङ्गकाल और गुप्तकाल भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं। सम्राट् हर्षवर्धन के काल में भी भारत सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में पर्याप्त समृद्ध था। पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा रचित इतिहास-ग्रन्थों के माध्यम से इनका विस्तृत परिचय प्राप्त किया जा सकता है। क्या इन सबको हम झुठला सकते हैं! आधुनिक तथाकथित

---

१. इस ग्रन्थ का प्रकाशन अभी हाल में जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी से हुआ है। इसके साथ मधुसूदन सरस्वती का प्रस्थान भेद भी प्रकाशित है।

राजनीतिज्ञ और उनके अनुवर्ती बुद्धिजीवी भी प्राणपण से इनको दफना देने के लिए जुटे तो अवश्य हैं, देखना यह है कि वे इसमें सफल कितने होते हैं।

सांख्य दर्शन का परिचय देते समय हमने बताया है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सांख्य, योग और लोकायत (चार्वाक) दर्शन की गिनती आन्वीक्षिकी में की गई है। बाद में न्यायशास्त्र का भी इसमें समावेश किया गया और वात्स्यायन के न्याय भाष्य के प्रमाण पर आज मुख्य रूप से न्याय विद्या को ही आन्वीक्षिकी कहा जाता है। सांख्य और योग भारत के प्राचीनतम दर्शन हैं। पाञ्चरात्र (वैष्णव) और पाशुपत (शैव) आगमों में इन्हीं के आधार पर अपनी-अपनी दर्शन पद्धति और योग पद्धति का विकास हुआ है। हम मान सकते हैं कि वेदों और उपनिषदों के बाद भारत में सांख्य और योग दर्शन का विकास हुआ और इनके बाद ही यहाँ जैन और बौद्ध दृष्टियाँ विकसित हुईं। जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ कपिल मुनि के और महावीर बुद्ध के समकालीन माने जाते हैं। इसके आधार पर यही मानना उचित होगा कि जैन दर्शन का पहले और बौद्ध दर्शन का बाद में विकास हुआ। इसीलिए हमने जैन दर्शन का परिचय पहले दिया है। महावीर और बुद्ध के समय तक लोकायत, आजीवक जैसे अनेक दार्शनिक मतवादों का आविर्भाव और विस्तार हो चुका था।

प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र) के आधार पर वेदान्त दर्शन का विस्तार हुआ। आज इन सब पर सबसे प्राचीन भाष्य आचार्य शङ्कर का है। भर्तृप्रपंच आदि के प्राचीन भाष्य अब उपलब्ध नहीं है, किन्तु उनकी पद्धति का अनुसरण करते हुए लिखे गये भट्ट भास्कर के भेदाभेदवादी और ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी भाष्य उपलब्ध हैं। इनका ब्रह्मसूत्र का भाष्य ही पूरा मिलता है। गीता भाष्य अधूरा उपलब्ध है। छान्दोग्य उपनिषद् पर लिखे गये इनके भाष्य की केवल सूचना मिलती है। इन दो आचार्यों के अतिरिक्त श्रीकण्ठाचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, श्रीकराचार्य, वल्लभाचार्य, विज्ञानभिक्षु, बलदेव विद्याभूषण और पंचानन तर्कवागीश के भाष्य भी मिलते हैं। वेदान्त दर्शन के प्रकरण में हमने ८०१ शांकर वेदान्त के ग्रन्थों की सूचना दी है। इन सभी वेदान्त-शाखाओं की भी विशाल ग्रन्थराशि उपलब्ध है।

क्या भगवाकरण के नाम पर इन सबको हवा में उड़ाया जा सकता है? हाँ, इंटरनेट के सहारे अब इनको आकाश में अवश्य स्थापित किया जाना चाहिए। भारतीय दर्शनों का परिचय कराने वाली पुस्तक में समस्त भारतीय वाङ्मय की चर्चा अपेक्षित नहीं थी, तो भी भारतीयता को विखण्डित करने में लगी आधुनिकता से दर्शनशास्त्र के अध्येता को सावधान कर देने के लिए यह सब इसलिए यहाँ लिखा गया है कि एक दार्शनिक ही कुतर्कों का सही समाधान प्रस्तुत कर सकता है।

अब हम यहाँ प्रस्तुत पाँच दर्शनों की पृष्ठभूमि में कुछ विषयों की तुलनात्मक समीक्षा करना चाहते हैं। सर्वप्रथम प्रमाण को हम लेते हैं।

प्रमाण

चार्वाक (लोकायत) दर्शन में केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना गया है। अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों की सत्ता यहाँ मान्य नहीं है। यह इसलिए कि इसे राजदर्शन माना गया है। राज्य की प्रसन्नता और नाराजगी ही यहाँ स्वर्ग और नरक के रूप में व्याख्यात है। न्यायालय में प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना जाता है, किसी प्रत्यक्ष द्रष्टा की गवाही ही मान्य होती है। यह अलग बात है कि कभी आँखों पर कान भारी पड़ जाय और गवाह अपनी बात बदल दे।

चार्वाक दर्शन स्वभाववाद का पक्षपाती है। हम अपने जीवन में प्रतिदिन इसका साक्षात्कार करते हैं कि मनुष्य अपने स्वभाव से जितना परेशान रहता है, उतना अन्य किसी से नहीं। सभी सुख-सुविधाओं के रहते हुए भी व्यक्ति अपने स्वभाव के कारण उनका उपभोग नहीं कर पाता। इस तरह से हम देखते हैं कि हमारे जीवन में चार्वाक दर्शन का काफी प्रभाव है और इसीलिए दर्शनों में इसका समावेश किया गया है। हम सेक्युलर स्टेट की इसी दर्शन की पृष्ठभूमि में व्याख्या कर सकते हैं और **लोकराज्य** के रूप में इसका सही अनुवाद भी दे सकते हैं।

जैन दर्शन में प्रत्यक्ष और परोक्ष नाम से और बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान के नाम से दो प्रमाण मान्य हैं। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष और परोक्ष की अपनी परिभाषा है। तदनुसार मति तथा श्रुत ज्ञान का तथा अनुमान और आगम का परोक्ष में तथा अवधि, मन:पर्यय और केवल ज्ञान का प्रत्यक्ष में समावेश किया गया है। इन पञ्चविध ज्ञानों की चर्चा यहाँ जैन दर्शन में की गई है। योगी-प्रत्यक्ष के साथ तृतीय आगम प्रमाण का भी इसमें समावेश हो जाता है। बौद्धदर्शन का विवेचन करते समय बौद्ध-सम्मत प्रत्यक्ष और अनुमान का स्वरूप बताया जा चुका है। वैशेषिक दर्शन आजकल न्याय दर्शन में ही समाविष्ट हो गया है और अब वह नैयायिकों के उपमान और शब्द प्रमाणों को भी स्वीकार करता हुआ चार प्रमाणों को मान्यता देता है।

सांख्य और योग दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम) नामक तीन प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। वैष्णव, शैव आदि सभी आगम-ग्रन्थों में भी तीन ही प्रमाण मान्य हैं। यह बताया जा चुका है कि आगम शास्त्र का दर्शन प्रथमत: सांख्य और योग दर्शन से अनुप्राणित रहा है।

नैयायिकों को चार प्रमाण मान्य हैं। ये हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। निर्विकल्पक और सविकल्पक शब्द बौद्ध दर्शन प्रकरण में व्याख्यात हैं। बौद्ध दर्शन जब केवल निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानता है, तो नैयायिक

सविकल्पक ज्ञान का भी प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव मानते हैं। इनके अतिरिक्त नैयायिकों के मत में प्रत्यक्ष के लौकिक और अलौकिक भेदों को बतलाकर लौकिक प्रत्यक्ष के बाह्य और आन्तर भेदों का तथा अलौकिक प्रत्यक्ष में योगज ज्ञान का समावेश किया गया है। योगी को सूक्ष्म, व्यवहित आदि पदार्थों का भी प्रत्यक्ष हो सकता है।

नैयायिक-सम्मत चार प्रमाणों के अतिरिक्त मीमांसक अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को भी प्रमाण मानते हैं। ''व्यवहारे भाट्टनय:'' इस उक्ति के अनुसार शाङ्कर वेदान्त में भी ये ही छ: प्रमाण अभिप्रेत हैं। इनका परिचय दिया जा चुका है। प्रभाकर भट्ट (गुरुमत) को पाँच ही प्रमाण मान्य है। ये अनुपलब्धि को अलग से प्रमाण नहीं मानते।

प्रमेय

प्रमाणों के समान प्रमेयों के विषय में भी दार्शनिकों में परस्पर मतभेद है। सांख्य दर्शन में व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) नामक त्रिविध प्रमेय प्रतिपादित हैं। योग दर्शन में ईश्वर को पुरुषविशेष कहा गया है। अन्य दर्शन में भी जीवात्मा और परमात्मा का आत्मतत्त्व में ही समावेश किया गया है। अधिकांश दर्शनों में जगत्, जीव और परमेश्वर के रूप में, शैवागमों में पति, पशु और पाश के रूप में तथा वैष्णवागमों में ब्रह्म, चित् और अचित् के रूप में तीन ही प्रमेय मान्य हैं। इन सबके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि प्राय: अधिकांश भारतीय दर्शनों में अपने परमतत्त्व के अतिरिक्त जड़ और चेतन पदार्थों का अर्थात् स्थावर-जंगमात्मक जगत् का स्वरूप प्रतिपादित है। जैन दर्शन में तत्त्वों की संख्या दो से लेकर नौ तक बताई गई है। वैशेषिक दर्शन में छ: अथवा सात तत्त्व विवेचित हैं और नैयायिक षोडश पदार्थों को मान्यता देते हैं। माध्वदर्शन, भट्ट कुमारिल एवं प्रभाकर भट्ट आदि के मत में भी तत्त्वों की संख्या भिन्न-भिन्न मिलती है। भारतीय शास्त्रों में एक से लेकर ३६३ संख्या तक के मतवादों का निरूपण मिलता है। हमने अपने ग्रन्थ तन्त्रयात्रा (पृ० १-१३) में समाविष्ट **'कति तत्त्वानि'** शीर्षक निबन्ध में इनका परिचय दिया है।

जगत् की सृष्टि

इस जगत् की सृष्टि कैसे होती है? इस विषय में भारतीय दर्शनों में तीन प्रमुख वाद प्रचलित हैं। उनके नाम हैं—परमाणुवाद, सत्कार्यवाद और विवर्तवाद। न्याय वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं से जगत् की सृष्टि मानी गई है। प्रथमत: परमाणुओं के परस्पर संयोग से **द्व्यणुक** की उत्पत्ति होती है। ऐसे तीन द्व्यणुकों के संयोग से **त्र्यणुक** बनता है। द्व्यणुक की अपेक्षा त्र्यणुक के परिमाण में भिन्नता द्व्यणुकों की संख्या के कारण होती है, परिमाण के कारण नहीं। आगे

चार त्र्यसरेणुओं के योग चतुरणुक की और तदनन्तर समस्त जगत् की सृष्टि होती है। परमाणु स्वभावतः निस्पन्दावस्था में रहते हैं। उनमें स्पन्दन अदृष्ट के सहकार और ईश्वर की इच्छा से होता है। पृथ्वी आदि चार भूतों की उत्पत्ति इसी क्रम से होती है। यही है परमाणुवाद का संक्षिप्त परिचय। पीलुपाक और पिठापाक के रूप में न्याय और वैशेषिक दर्शन में भिन्नता मिलती है।

सत्कार्यवाद का परिचय सांख्य प्रकरण में दिया जा चुका है। यहाँ वस्तु उत्पन्न नहीं होती, उसका परिणाम होता है। परिणाम के होने पर वस्तु की सत्ता में परिवर्तन नहीं होता, तो यही सत्कार्यवाद कहलाता है और पदार्थ की सत्ता में भिन्नता प्रतीत होने लगती है, तो वह विवर्तवाद के नाम से जाना जाता है। जैसे सुवर्ण के कुण्डल के रूप में परिणत होने पर भी उसका स्वर्णभाव तिरोहित नहीं होता, मृत्तिका के घट का आकार ग्रहण कर लेने पर भी यह मिट्टी का घड़ा है, इस प्रतीति का अभाव नहीं होता। इसके विपरीत रज्जु (रस्सी) में जब सर्प का भान होने लगता है अथवा शुक्ति में रजत की प्रतीति होने लगती है, तो इनकी सत्ताएँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। इसीलिए शास्त्रों में विवर्त और परिणाम के लक्षण इस तरह से दिये गये हैं—विषमसत्ताककार्यापत्तिर्विवर्तः, समसत्ताक-कार्यापत्तिः परिणामः। भर्तृहरि के वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक में बताया गया है कि शब्दब्रह्म जब अर्थ के रूप में बदल जाता है, तो जगत् की सृष्टि प्रक्रिया प्रवृत्त होती है। आगम की सृष्टि प्रक्रिया कुछ विलक्षण है। इसको 'आगम और तन्त्रशास्त्र' (पृ० ८९-९८) शीर्षक ग्रन्थ में संगृहीत 'आगम और तन्त्रशास्त्र की सृष्टि प्रक्रिया' शीर्षक हमारे निबन्ध में देखा जा सकता है। बौद्ध दर्शन में सृष्टि शून्यवाद और विज्ञानवाद के रूप में विवेचित है। निरोध आदि षड्विध परिणामों का परिचय योगदर्शन प्रकरण में दिया गया है।

सूक्ष्म शरीर

सांख्य दर्शन के अनुसार सूक्ष्म शरीर में १८ तत्त्वों की तथा वेदान्त के अनुसार १७ तत्त्वों की स्थिति है। सांख्य की पञ्चतन्मात्रा के स्थान पाँच वायु का समावेश यहाँ माना गया है। इससे अहंकार की गणना नहीं की गई है। यह हम बता चुके हैं कि प्रत्येक दर्शन का अनुशीलन अपनी-अपनी पद्धति के अनुसार होना चाहिए। भारतीय शास्त्रों में तो यह भी प्रतिपादित है कि पंचायतन अथवा षडायतन पूजा में प्रत्येक देवता की उपासना भी अपनी-अपनी पद्धति के अनुसार ही होनी चाहिए। भगवद्गीता के इस श्लोक में—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (७.४)

जिस अष्टधा भिन्न प्रकृति का वर्णन किया गया है, कालोत्तर (१७.४-५) जैसे

आगम-ग्रन्थों में उसे पुर्यष्टक नाम दिया गया है। योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण (१.५१.५०) में और स्पन्दकारिका (श्लो० ४९) में भी पुर्यष्टक के नाम से ही ये व्याख्यात हैं। भोजदेव के तत्त्वप्रकाश में—"स्यात् पुर्यष्टकमन्तःकरणं धीकर्मकरणानि" (श्लो० १२) पुर्यष्टक ही निरूपित है। टीकाकारों ने इस वचन की व्याख्या करते हुए बताया है कि पुर्यष्टक उस सूक्ष्म शरीर का ही नाम है, जो सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर कल्पान्त तक के लिए प्रत्येक पुरुष के लिए नियत रहता है। इस सूक्ष्म शरीर में यहाँ पृथ्वी से लेकर कला तत्त्व पर्यन्त तीस तत्त्वों का समावेश किया है। स्पष्ट ही सांख्य और वेदान्त-सम्मत सूक्ष्म शरीर से यह भिन्न प्रकार का है। एक विसंगति भी यहाँ देखने को मिलती है। दोनों ही दर्शनों में स्थूल पंच महाभूतों का सूक्ष्म शरीर में समावेश नहीं किया गया। इसके विपरीत आगम शास्त्र के यहाँ उद्धृत वचनों में पृथ्वी से लेकर कला तत्त्व पर्यन्त तीस तत्त्वों का पुर्यष्टक अथवा सूक्ष्म शरीर में समावेश माना है। सूक्ष्म शरीर में स्थूल भूतों की उपस्थिति कुछ अटपटी सी लगती है। व्याख्याकार कुमार पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच बुद्धीन्द्रिय, चार अन्तःकरण, पाँच प्राण, पाँच तन्मात्रा, काम, कर्म और अविद्या नामक आठ तत्त्वों को पुर्यष्टक की मान्यता देते हैं। जैसा कि—

कर्मेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथापराणि
बुद्धीन्द्रियाणि मन आदि चतुष्टयं च।
प्राणादिपञ्चकमथो वियदादिकं च
कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टमी पूः॥

इस वचन में वर्णित है। यहाँ पंच महाभूतों का समावेश नहीं किया गया है। सूक्ष्म शरीर आगमशास्त्र में पुर्यष्टक के अतिरिक्त आतिवाहिक देह के रूप में भी प्रसिद्ध है। मृगेन्द्रागम (विद्या० १२.३२-३४) में इसका स्वरूप वर्णित है। इस प्रकार सूक्ष्मशरीर, पुर्यष्टक और आतिवाहिक देह पर्यायवाची शब्द हैं। विन्ध्यवासी से सम्बद्ध एक उक्ति प्रसिद्ध है—"अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना"। 'अन्तराभव देह' से कुछ आचार्य सूक्ष्म शरीर को ग्रहण करते हैं, तो अन्य विद्वानों का कहना है कि इस देह की कल्पना एक स्थूल देह से दूसरे स्थूल देह में प्रवेश के लिए वसुबन्धु जैसे बौद्धों ने की है।

बन्ध और मोक्ष

ब्रह्म, जीव और जगत्—इन तीन तत्त्वों के अतिरिक्त बन्ध और मोक्ष के विषय में भी सभी भारतीय दर्शन अपना-अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं। सांख्य दर्शन का कहना है कि पुरुष बन्ध और मोक्ष दोनों से युक्त है, वास्तव में बन्ध और मोक्ष प्रकृति के धर्म हैं और ये पुरुष में उपचारित हो जाते हैं। पुरुष से जब प्रकृति अलग हो जाती है, तो वह अकेला (केवल) रह जाता है और इस कैवल्यावस्था में

उसमें प्रज्ञा का आलोक भर जाता है। चिति शक्ति का यही स्वरूप है। इसी में पुरुष सदा-सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाता है। पातञ्जल योगशास्त्र के अन्तिम सूत्र में ये दोनों ही स्थितियाँ प्रदर्शित हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रकाशात्मक शिव का यही स्वरूप है। वहाँ भी बन्ध और मोक्ष की वास्तविक सत्ता मान्य नहीं है। वहाँ कहा गया है—"वस्तुस्थित्या न बन्धोऽस्ति तदभावान्न मुक्तता"। बौद्ध दार्शनिक भी इसी मत के हैं। वे भी बन्ध और मोक्ष को विकल्प-घटित मानते हैं। बौद्धों का विकल्प योगसूत्र की विकल्प वृत्ति से भिन्न नहीं है।

द्वैत दृष्टि से विचार करने पर इस संसार में जन्म-मरण की निरन्तर चल रही प्रक्रिया को भी बन्ध और इस प्रक्रिया के रूक जाने को ही मोक्ष कहा गया है। जैन दर्शन (पृ० ८६) में भी बन्ध और मोक्ष की यही परिभाषा मान्य है। योग दर्शन (१.३०) में वर्णित भ्रान्ति (मिथ्या) दर्शन अविरति जैसे अन्तरायों को यहाँ बन्ध का कारण बताया गया है। आगामिक दर्शन में सृष्टि, स्थिति और संहार के अतिरिक्त भगवान् के तिरोधान (निग्रह) और अनुग्रह (कृपा) नामक दो और कृत्य माने गये हैं। इस तरह वहाँ ईश्वर को पंचकृत्यकारी माना जाता है। ईश्वर के निग्रह व्यापार के चलने तक जीव बन्धन में पड़ा रहता है और अनुग्रह (शक्तिपात) होने पर वह अन्ततः मुक्त हो जाता है। वेदान्त की दृष्टि से विचार करें, तो अध्यारोप के कारण जीव बन्धन में पड़ जाता है और अपवाद की प्रक्रिया के प्रारम्भ होने पर वह मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। इस विषय में प्रत्येक दर्शन में विचार किया गया है कि जीव किस लिए बन्धन में पड़ता है और कैसे वह उन बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

अष्टाङ्ग योग

पातञ्जल योग सूत्र में प्रतिपादित अष्टाङ्ग योग का परिचय यथास्थान दिया गया है। वेदान्तशास्त्र में इनको निर्विकल्पक समाधि से सम्बद्ध माना गया है। सविकल्पक समाधि पर्यन्त आठ योग के अंग है और निर्विकल्पक समाधि अंगी। क्रम दर्शन की शक्ति प्रक्रिया में इनकी उपयोगिता पर शंका प्रकट की गई है और इसी लिए नेत्रतन्त्र में अष्टाङ्ग योग की भिन्न प्रकार की प्रक्रिया निर्दिष्ट है। वहाँ इन्हीं अंगों की व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई। जैसे कि—

संसारविरतिर्नित्यं यमः पर उदाहृतः।
भावना तु परे तत्त्वे नित्यं नियम उच्यते॥
मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम्।
आलम्ब्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभेत्॥ (८.१०-१२)

इन दो श्लोकों में यम, नियम और आसन के लक्षण दिये गए हैं, उसी तरह प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि के भी लक्षण निरूपित हैं।

शाक्त उपासना में इन्हीं लक्षणों का अनुसरण करते हुए योगी आगे बढ़ता है। यहाँ ध्यान देने की विशेष बात यह है कि धारणा और ध्यान के क्रम को बदल कर ध्यान और धारणा कर दिया गया है। वेदान्तशास्त्र में पातंजल योग का क्रम मान्य है। इसके विपरीत आगमशास्त्र और पुराण-ग्रन्थों में नेत्रतन्त्र का ही क्रम मान्य है। समाधि के लिए समापत्ति शब्द का प्रयोग योगसूत्र में भी मिलता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी समावेश शब्द के साथ समापत्ति शब्द का प्रयोग समाधि के अर्थ में ही होता है।

षडङ्ग योग

बौद्ध, वैष्णव और शैव-शाक्त तन्त्रों में अष्टाङ्ग योग के स्थान पर षडङ्ग योग का विधान है। यहाँ पातञ्जल योग के यम, नियम और आसन—इन तीन अंगों को छोड़ दिया गया है। यह वास्तव में छोड़ा नहीं गया है, किन्तु इनका समावेश बाह्य और आन्तर उपासना में कर लिया गया है और बाकी बचे पाँच अंगों के साथ तर्क, अनुस्मृति, ऊह आदि के नाम से छठे अङ्ग का वहाँ समावेश किया गया है। कुछ उपनिषदों में और आचार्य भास्कर के गीताभाष्य में भी इनको मान्यता दी गई है।

बौद्ध गुह्यसमाज तन्त्र (१८.१४०) में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि—ये छः योग के अंग माने गये हैं। भगवद्गीता के भास्कर-भाष्य (पृ० १३७) में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि नामक छः अंग गिनाये गये हैं। यहाँ अनुस्मृति के स्थान पर तर्क नाम दिया गया है। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने षडङ्ग योग का उल्लेख किया है। वहाँ का क्रम इस प्रकार है—प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क और समाधि। विष्णुसंहिता (३०.६१-७२) में विस्तार से इनका विवरण भी मिलता है।

मालिनी विजय (१७.१८) और तन्त्रालोक (४.१५) में योग के इन छः अंगों में तर्क को श्रेष्ठ बताया गया है। विष्णुसंहिता (३०.६९-७०) में कहा गया है कि धारणा में जब चित्त संलग्न हो, तब अन्वय और व्यत्तिरेक की सहायता से किया गया निश्चय ही तर्क कहलाता है। भारतीय वाङ्मय में सत्तर्क को बहुत पहले मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। निरुक्त में बताया गया है कि ऋषियों की परम्परा के समाप्त हो जाने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा कि अब हमारे बीच ऋषि का काम कौन करेगा? इसके उत्तर में देवताओं ने मनुष्यों को तर्कशक्ति दी कि अब यही तुम लोगों के लिए ऋषि का कार्य करेगी। धर्मशास्त्रकारों ने भी शास्त्रों के अविरोधी सत्तर्क को मान्यता दी है। तर्क को अप्रतिष्ठित तभी माना जा सकता है, जब वह शास्त्र-विरुद्ध हो। जयरथ ने ऊह को तर्क का ही पर्याय माना है।

मृगेन्द्रागम के योग पाद के तृतीय श्लोक में योग के अंग के रूप में वीक्षण (अभिवीक्षण) परिगणित है। उसी को ऊह भी कहा गया है। बौद्धपालि वाङ्मय और गुह्यसमाज तन्त्र में वर्णित अनुस्मृति (आनापान स्मृति) और इस अभिवीक्षण में पर्याप्त समानता है। भगवद्गीता के "मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" (१५.१५) इस वचन के भाष्य में रामानुजाचार्य ने अपोहन शब्द को ऊह का पर्यायवाची माना है। ऊह प्रमाणों का अनुग्राहक ज्ञान है। स्पष्ट है कि आगम-तन्त्र शास्त्र में ही नहीं, पूरे भारतीय साहित्य में तर्क या ऊह की प्राचीन काल से प्रतिष्ठा चली आ रही है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के पुरोधा उत्पल भट्ट ने अपने महनीय ग्रन्थ ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के प्रथम ज्ञानाधिकार के चतुर्थ, पंचम और षष्ठ आह्निक में क्रमशः भगवद्गीता-प्रोक्त स्मृति, ज्ञान और अपोहन शक्तियों का विशद विवेचन किया है और आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी विमर्शिनी व्याख्या में इसको विस्तार से समझाया है। अपोहन शक्ति की व्याख्या हम बौद्धों के अपोहवाद से भी कर सकते हैं। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द ने भी अपनी परिमल व्याख्या के उपसंहार-श्लोकों में अपने मत की पुष्टि के लिए गीता के उपदेशक भगवान् मुकुन्द का स्मरण किया है।

प्रस्थान चतुष्टयी

प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र) की अभी ऊपर चर्चा हुई है। भारतीय आचार्यों ने इन पर भाष्य लिख कर अपने-अपने मत की स्थापना की है। शुद्धाद्वैत मत के प्रतिष्ठापक वल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत का भी समावेश कर प्रस्थान चतुष्टयी को मान्यता दी है। हम समझते हैं कि अन्य वैष्णवाचार्यों और शैवाचार्यों ने भी इसी पद्धति से अपने-अपने भाष्यों में अपने-अपने मत की मान्यता देने में आगम-ग्रन्थों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। सर्वदर्शन संग्रह में वर्णित पूर्णप्रज्ञ (मध्व) दर्शन की प्रारम्भिक उक्ति को इसके प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। वहाँ कहा गया है कि रामानुज दर्शन के साथ मध्व दर्शन की समानता यह है कि इन दोनों दर्शनों को पाञ्चरात्र आगम का प्रामाण्य समान रूप से मान्य है।

जैन दृष्टि

जैन दर्शन की तीन बातों की ओर हम पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहते हैं। ये हैं—रत्नत्रय, सत् का लक्षण और अनेकान्तवाद। इन तीनों विषयों के स्वरूप पर यहाँ यथास्थान प्रकाश डाला गया है। सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को रत्नत्रय का नाम इसलिए दिया गया है कि इनके अनुपालन से व्यक्ति मोक्षपथ का पथिक बन जाता है। महाकवि श्रीहर्ष अपने नैषधचरित महाकाव्य में अधीति, बोध और आचरण के माध्यम से इनको

अभिव्यक्ति दी है और कहा है कि इन तीनों रत्नों से सम्पन्न व्यक्ति को ही दूसरों को उपदेश देने का अधिकार है।

तन्त्रागम शास्त्र में भी सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सिद्धि के लिए ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या नामक पादों का विधान है। इनमें सम्यक् दर्शन की सिद्धि के लिए ज्ञान (विद्या) पाद का, सम्यग् ज्ञान के लिए योगपाद का और सम्यक् चारित्र की सिद्धि के लिए क्रिया और चर्यापाद का विधान है। पाद विभाग के न रहने पर शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध आदि सभी तन्त्रों में ये सब विषय सर्वत्र वर्णित हैं।

इन सब में आचरण की शुद्धता पर विशेष जोर दिया गया है, शास्त्रार्थ की प्रक्रिया पर नहीं। इस प्रसंग में अभिनवगुप्त और क्षेमराज की उक्तियाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं कि अपने में उन्माद को जगाने वाली और दूसरों का अपमान करने वाली पंडिताई से हमें क्या लेना-देना है? क्षेमराज भी कहते हैं कि सुकुमार हृदय वाले साधक-जनों में शास्त्रों के प्रति उपेक्षाभाव को जगाने वाली तर्ककथाओं से हमें दूर ही रहना चाहिए। इन वचनों को उद्धृत करने का हमारा अभिप्राय यह है कि व्यवहार और तत्त्वज्ञान के उपयोगी अंशों को हमें अपने जीवन में उतारना चाहिए।

इसी तरह से जैन दर्शन में वर्णित सत् की परिभाषा भी सरलता से सबके समझ में आ जाती है। बालक युवावस्था में प्रविष्ट हो अन्ततः वृद्ध हो जाता है। यहाँ युवावस्था के **उत्पाद** के साथ बाल्यावस्था का **व्यय** और वृद्धावस्था के उत्पाद के साथ युवावस्था का व्यय हो जाता है, तो भी व्यक्ति के रूप में बालक, युवक और वृद्ध एक ही है। व्यक्ति की यह ध्रुवता ही **ध्रौव्य** शब्द से जानी जाती है। इसी पद्धति से हम प्रत्येक तत्त्व में इन तीनों स्थितियों को देखते हैं, तो उसकी सत्ता को हम मान्यता देते हैं। योगशास्त्र में वर्णित धर्मी (पृ० ४८) के लक्षण से भी हम इसकी तुलना कर सकते हैं। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में प्रत्यभिज्ञा की सहायता से और अद्वैत वेदान्त में 'तत् त्वमसि' जैसे महावाक्यों की सहायता से परिवर्तनशील अथ च शाश्वत सत्ता का बोध होता है। जैन दर्शन में इसी को अनेकान्तवाद नाम दिया गया है। अनेकान्तवाद का परिचय हम दे चुके हैं।

चार आर्य सत्य

बौद्ध दर्शन प्रकरण में हमने भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट चार आर्य सत्यों की चर्चा की है। उनके नाम हैं—दुःख, समुदय, मार्ग और निरोध। इनका परिचय वहाँ दिया जा चुका है। पातञ्जल योगशास्त्र में हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय के रूप में जिस चतुर्व्यूह का प्रतिपादन किया गया है, तदनुसार आर्य सत्यों में तृतीय स्थान पर निरोध और चतुर्थ स्थान पर मार्ग की गणना होनी चाहिए।

र्सदर्शन संग्रह में यही क्रम दिखाया भी है। चिकित्साशास्त्र में निरूपित चतुर्व्यूह का स्वरूप भी इसी क्रम को मान्यता देता है। वहाँ स्वास्थ्य लाभ के लिए रोग, रोगहेतु, आरोग्य और भैषज्य के क्रम को समझाया है। योगभाष्य (२.१५) में इन दोनों ही क्रमों की परीक्षा की गई है। बौद्ध और योगदर्शन के साथ चिकित्साशास्त्र में वर्णित इन चार आर्य सत्यों अथवा चतुर्व्यूहों को यदि हम एक साथ देखें, तो इस विषय को सरलता से समझने में सहायता मिलती है। बौद्ध दर्शन में त्रिरत्न के रूप में शील, समाधि और प्रज्ञा का समावेश किया गया है। श्रुतमयी, चिन्तामयी और भावनामयी के रूप में प्रज्ञा के प्रवाद बताए गए हैं, कश्मीर के मालिनीविजयतन्त्र (४.२८-३१) में श्रुत, चिन्तापद और भावनामय नामक त्रिविध ज्ञान के रूप में वे व्याख्यात हैं।

विज्ञानवाद

बौद्ध प्रकरण में चार प्रकार के बौद्ध दार्शनिकों का परिचय दिया गया है। यहाँ हम उनमें से विज्ञानवाद की चर्चा करना चाहते हैं। विज्ञानवादी योगाचारों का कहना है कि विज्ञान (विज्ञप्ति) ही एकमात्र परमार्थ है। विज्ञान के ही चित्त, मन, विज्ञप्ति आदि पर्याय हैं। ये बाह्य वस्तु की सत्ता को नहीं मानते। इनके मत में जगत् में प्रतीत हो रही समस्त बाह्य वस्तुएँ वास्तव में चित्त के ही विभिन्न प्रत्यय हैं। बौद्धों के यहाँ समस्त पदार्थों के क्षणिक होने से यह विज्ञान भी क्षणिक है। इसकी उपपत्ति के लिए मनोविज्ञान के अतिरिक्त आलयविज्ञान की भी सत्ता ये मानते हैं। इनका कहना है कि आलयविज्ञान तक पहुँचने पर ही विषय का यथार्थ ज्ञान होता है। आश्चर्यजनक रूप से यह विषय विष्णुपुराण में भी वर्णित हैं। वहाँ का एक श्लोक आप देखिए—

ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसंप्लवे॥

हम समझते हैं कि 'ज्ञानस्वरूपमखिलम्' के स्थान पर यदि हम 'विज्ञानरूपमखिलम्' पाठ कर दें, तो यह पूरी तरह से विज्ञानवाद का समर्थक वाक्य हो जायेगा। अन्तर केवल इतना ही है कि विष्णुपुराण का ज्ञान नित्य तत्त्व है, तो बौद्धों का विज्ञान क्षणिक।

विज्ञानभैरव कश्मीरी योगशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें चित्त की एकाग्रता के लिए ११२ धारणाओं का विधान है। उस ग्रन्थ के उपोद्घात में हमने लिखा है कि यह भैरव विज्ञान स्वरूप है, बोधात्मक है, चिदात्मक है (पृ० ६)। योगवासिष्ठ में भी हम विज्ञान की इसी व्याख्या का विस्तार देखते हैं। बौद्ध विज्ञान से यह विज्ञान इस रूप में भिन्न है कि यह क्षणिक नहीं है और न ज्ञेय-

शून्य ही है, क्योंकि घट-पट आदि सभी ज्ञेय पदार्थों में भाव-स्वभाव विज्ञात भैरव का स्वरूप अनुवृत्त है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। अपने परमेष्ठी गुरु उत्पलभट्ट की ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृति पर विमर्शिनी व्याख्या लिखते हुए अन्त में प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रवृत्ति के विषय में वे कहते हैं—"आगमेषु द्वैतव्याख्यानमपास्य, ब्रह्मवादेऽविद्यां मायाशक्तीकृत्य, विज्ञानाद्वय मात्मेश्वराभिप्रायेण निरूप्य सिद्ध्यत्येष जनः" (भाग ३, पृ० ४०५)। यहाँ तीन विषयों की चर्चा की गई है। एक तो यह कि आगमों की द्वैतवादी व्याख्या के स्थान पर यहाँ उनका अद्वैतपरक व्याख्यान किया गया है, दूसरा शांकर ब्रह्मवाद की अविद्या को यहाँ मायाशक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है और तीसरा बौद्धों के विज्ञानाद्वयवाद को आत्मेश्वरवाद के रूप में स्वीकृत किया है। "स्वात्मैव देवता प्रोक्ता" यह आगमशास्त्र का उद्घोष है। स्पष्ट है कि प्रत्यभिज्ञादर्शन की सृष्टि इन तीन तत्त्वों को मिला कर हुई है।

समान दृष्टि

आधुनिक इतिहास ग्रन्थों में भारतीय दर्शनों की भेद-दृष्टि पर अधिक जोर दिया गया है। इसके विपरीत हमने यहाँ उनकी परस्पर की समानता पर प्रकाश डालने का लघु प्रयास किया है। इसको अधिक विस्तार से प्रस्तुत किया जा सकता है। बौद्ध दर्शन में सोपधिशेष निर्वाण को जीवन्मुक्त स्थिति से समरस किया है। जीवन्मुक्त स्थिति की प्रायः सभी दार्शनिकों ने चर्चा की है। आगमशास्त्र में वर्णित **कर्मसाम्य** की स्थिति से हम इन सबको समरस कर सकते हैं। यज्ञ-याग आदि के अनुष्ठान से स्वर्ग आदि के प्राप्ति के लिए अपूर्व की कल्पना मीमांसाशास्त्र में की गई है। अन्य दार्शनिकों ने अदृष्ट को मान्यता दी है। बौद्ध दार्शनिकों ने रूप नामक संस्कृत धर्म के ११वें प्रकार अविज्ञप्ति को अपूर्व या अदृष्ट से अभिन्न माना है (पृ० १५६)। हम इसी पद्धति से इस साम्य दृष्टि का विस्तार कर सकते हैं और परस्पर के विग्रह के बीजों को निष्प्रभावी बना सकते हैं।

भवन्निष्ठ

मकर संक्रान्ति
२०५९ वि०

व्रजवल्लभ द्विवेदी

विषय-क्रम



सांख्य दर्शन

कृतान्तपंचक का प्रामाण्य

कृतान्तपंचक की जहाँ कहीं भी चर्चा हुई है, उसमें सांख्य दर्शन का पहला स्थान है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान (अ० ३४८) में सांख्य, योग, वेद और पाञ्चरात्र शास्त्रों को परस्पर उपकारक माना गया है। इनका सुन्दर समन्वय भगवद्गीता में हुआ है। सांख्य, योग और उपनिषदों का तो वहाँ स्पष्ट ही उल्लेख मिलता है, इनके अतिरिक्त शरणागति और प्रपत्ति आदि के सिद्धान्त वहाँ पाञ्चरात्र सिद्धान्त से लिए गए हैं। इस तरह से गीता को सांख्य, योग, उपनिषद् और पाञ्चरात्र सिद्धान्त का सम्मिलित ग्रन्थ माना जाता है। तिलक महाराज ने भगवद्गीता को एकायन शाखा का महान् ग्रन्थ माना है। एकायन पाञ्चरात्र का ही नामान्तर है।

नारायणीयोपाख्यान के विपरीत ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, जैन-बौद्ध और पाशुपत-पाञ्चरात्र मतों का खण्डन कर केवल औपनिषद मत की स्थापना की गई है। तर्कपाद की व्याख्या में शंकर, रामानुज आदि आचार्यों के भाष्य-व्याख्यानों में थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता है, किन्तु आगे चलकर धर्मशास्त्र के निबन्ध-ग्रन्थों में कृतान्तपंचक का प्रामाण्य स्वीकृत हो गया। महिम्नस्तव की रचना के काल में त्रयी (वेद), सांख्य, योग और पाशुपत मत के साथ वैष्णव मत अर्थात् पाञ्चरात्र शास्त्र की भी स्वतन्त्र प्रस्थान के रूप में प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

पाञ्चरात्राधिकरण की व्याख्या करते हुए आचार्य रामानुज अपने भाष्य में इस श्लोक को उद्धृत करते हैं—

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
स्वयंप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

इसको उद्धृत कर वे कहते हैं कि ये सभी शास्त्र स्वयं अपने में प्रमाण हैं, अर्थात् इनको वेद आदि के प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही सांख्य को प्रामाणिक शास्त्र की मान्यता मिल गई थी।

आगे चलकर कपिल के सांख्य शास्त्र के साथ बुद्धवचनों का भी आगमों में समावेश मान लिया गया और सर्वागम प्रामाण्य जैसे ग्रन्थों का भी निर्माण हो गया। वैष्णव परमार्थसार में हमें सांख्य दर्शन का अद्वैतोन्मुख स्वरूप देखने को

मिलता है और इन्हीं श्लोकों की आचार्य अभिनवगुप्त ने शैवी व्याख्या प्रस्तुत की है।

सांख्य के प्रवक्ता कपिल मुनि

नारायणीयोपाख्यान में ही नहीं, पूरे भारतीय वाङ्मय में कपिल मुनि सांख्य के प्रवक्ता माने गये हैं। ये भारतीय उदारवादी परम्परा के आद्य आचार्य माने जा सकते हैं। प्रो० लल्लनजी गोपाल ने जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के साथ इनका काल ईसा पूर्व आठवीं-नवीं शताब्दी स्थिर किया है। इनके दर्शन का परवर्ती काल के दर्शनों पर ही नहीं, चिकित्साशास्त्र पर भी गहरा प्रभाव पड़ा है। सांख्य के त्रिगुण सिद्धान्त के आधार पर ही आयुर्वेद का त्रिधातु सिद्धान्त स्थापित हुआ। साधारण मनुष्य भी आसानी से इस दर्शन की प्रक्रिया को समझ सकता है, क्योंकि यह दर्शन मनुष्य की प्रकृति (स्वभाव) का ही विवरण प्रस्तुत करता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र (१.२.१०) में सांख्य, योग और लोकायत (चार्वाक) दर्शन का आन्वीक्षिकी विद्या में परिगणन हुआ है। इसके विपरीत वात्स्यायन के न्याय भाष्य (१.१.१) में न्यायशास्त्र को आन्वीक्षिकी कहा गया है। प्रमाण के रूप में वहाँ यह श्लोक उद्धृत है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता॥

इस श्लोक के चतुर्थ चरण में अर्थशास्त्र के विद्यासमुद्देश प्रकरण का उल्लेख किया गया है; क्योंकि इसी प्रकरण में आन्वीक्षिकी विद्या चर्चित है। अर्थशास्त्र के इस प्रकरण के अन्त में यह श्लोक इस तरह से मिलता है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

इस विद्यासमुद्देश प्रकरण में वहाँ न्याय विद्या की कोई चर्चा नहीं है। वहाँ तो आन्वीक्षिकी के रूप में सांख्य, योग और लोकायत दर्शन को ही प्रस्तुत किया गया है। स्पष्ट है कि कौटिल्य को आन्वीक्षिकी के रूप में ये ही दर्शन मान्य हैं, न्याय दर्शन नहीं। इससे भी सांख्य दर्शन की प्राचीनता सिद्ध होती है।

उपनिषदों के साथ मिलकर सांख्य दर्शन ने वैदिक हिंसा प्रधान कर्मकाण्ड की समालोचना की है। इसीलिए इसके विरुद्ध भी अप्रामाण्य की आशंका प्रस्तुत की गई, किन्तु अन्ततः पूरे भारतीय वाङ्मय में योग दर्शन के साथ सांख्य दर्शन का भी अप्रतिहत वर्चस्व स्थापित हो गया।

सांख्य दर्शन का इतिहास

सांख्य दर्शन का इतिहास लिखते समय आधुनिक विद्वानों ने अनेक प्राचीन सांख्याचार्यों का परिचय दिया है। उनमें से हम केवल सात आचार्यों का संक्षिप्त

परिचय देना चाहते हैं। वे हैं—१. कपिल, २. आसुरि, ३. पञ्चशिख, ४. जैगीषव्य, ५. वार्षगण्य, ६. ईश्वरकृष्ण, ७. विन्ध्यवासी।

१. कपिल मुनि—इन सभी आचार्यों के देश और काल की सही सूचना दे पाना कठिन है, तो भी अनेक इतिहासविदों ने इस विषय पर पर्याप्त परिश्रम किया है। श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के २१-२७ अध्यायों में कपिल मुनि के पिता कर्दम ऋषि और माता देवहूति की, कर्दम के आश्रम के प्रसंग में सरस्वती नदी और बिन्दु सरोवर का तथा कपिल मुनि के द्वारा अपनी माता देवहूति को उपदिष्ट सांख्यज्ञान की चर्चा मिलती है। यह स्थान श्री स्थल (सिद्धपुर) के नाम से उत्तर गुजरात में प्रसिद्ध है और यहाँ सरस्वती नदी के तट पर बिन्दु सरोवर की स्थिति आज भी विद्यमान है। यहीं अपनी माता देवहूति को कपिल मुनि ने सांख्य शास्त्र का उपदेश दिया था, ऐसी मान्यता है। इनके काल के विषय में प्रो० लल्लनजी गोपाल के मत की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। यह उनकी अन्तिम संभाव्य तिथि है।

षष्टितन्त्र के रचयिता

कपिल मुनि ने अपने शिष्य आसुरि को केवल मौखिक उपदेश दिया अथवा उन्होंने किसी ग्रन्थ की भी रचना की, यह भी एक असमाहित प्रश्न है। षष्टितन्त्र की रचना कपिल मुनि ने ही की या उनके प्रशिष्य पञ्चशिख ने, इस पर मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि षष्टितन्त्र की रचना कपिल मुनि ने की थी। अन्य विद्वानों का कहना है कि यह पञ्चशिख की कृति है। ये लोग—

एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्॥७०॥

ईश्वरकृष्ण की इस कारिका में प्रयुक्त **'तेन'** शब्द के आधार पर कहते हैं कि षष्टितन्त्र की रचना पञ्चशिख ने की। इसके विपरीत अहिर्बुध्न्य संहिता (१२.१८-३१) में षष्टितन्त्र का परिचय देते समय इसे कपिल मुनि की ही कृति माना गया है। सांख्यकारिका की प्राचीनतम टीका युक्तिदीपिका के तीसरे और चौदहवें मंगलपद्य में भी इसे कपिलमुनि की ही कृति माना गया है। ब्रह्मसूत्र (२.१.१) के शांकरभाष्य में तन्त्र पद से षष्टितन्त्र ही गृहीत है और भास्कर भाष्य में कपिल महर्षि प्रणीत षष्टितन्त्र का स्पष्ट उल्लेख है। षष्टितन्त्र की प्राचीनता के विषय में प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र जी ने अपने "सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा" (पृ० ७४-७५) शीर्षक ग्रन्थ में सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि जैन प्राकृत वाङ्मय में षष्टितन्त्र की चर्चा है। वहाँ जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी को षष्टितन्त्र विशारद कहा गया है। स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ उस समय तक

अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। बुद्ध-चरित में कुमार सिद्धार्थ के सांख्यशास्त्र के अध्ययन की चर्चा मिलती है।

इन प्रमाणों से आधुनिक इतिहासज्ञों के इस मत का तो खण्डन हो ही जाता है कि ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका के पहले सांख्यशास्त्र की कोई स्थिति नहीं थी, साथ ही डॉ० एस०एन० दास गुप्त के ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन का इतिहास' के प्रथम भाग (हिन्दी संस्करण) में 'उपनिषदों में सांख्यदर्शन के बीज' (पृ० २२०-२२१) में श्वेताश्वतर और मैत्रायणी जैसे उपनिषदों के आधार पर तथा 'सांख्य की एक पूर्ववर्ती प्रणाली' (पृ० २२२-२३०) में चरक संहिता, व्याकरण महाभाष्य, महाभारत शान्ति पर्व (पञ्चशिख सांख्य) आदि के आधार पर जो कुछ भी पाश्चात्य इतिहासविदों की दृष्टि का समर्थन करते हुए लिखा गया है, उसकी प्रामाणिकता पर भी प्रश्न-चिह्न लग जाता है।

षष्टितन्त्र

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका की अपनी व्याख्या सांख्य-तत्त्वकौमुदी के अन्त में राजवार्तिक के प्रमाण से षष्टितन्त्र में प्रतिपादित साठ विषयों का वर्णन इस प्रकार किया है—

प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथाऽन्यता।
पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च॥
शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश।
विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः॥
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा स्मृतम्।
इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः॥

अर्थात् १. प्रधान का अस्तित्व, २. एकत्व, ३. अर्थवत्त्व, ४. अन्यत्व, ५. पारार्थ्य, ६. अनेकत्व, ७. वियोग, ८. योग, ९. शेष वृत्ति और १०. अकर्तृत्व—ये दस मौलिक अर्थ हैं। ५ प्रकार का विपर्यय. ९ प्रकार की तुष्टि, ३८ प्रकार का असामर्थ्य और ८ प्रकार की सिद्धि—ये सब मिलकर ६० पदार्थ षष्टितन्त्र में प्रतिपादित हैं। इनमें एकत्व, अर्थवत्त्व और पारार्थ्य का सम्बन्ध प्रधान से, अन्यत्व, अकर्तृत्व और बहुत्व का पुरुष से और अस्तित्व, वियोग और योग का सम्बन्ध दोनों से है। वृत्ति, अर्थात् स्थिति का सम्बन्ध प्रकृति की सूक्ष्म और स्थूल अवस्थाओं से है। विपर्यय आदि का परिचय आगे दिया जायेगा। अन्य आचार्य पुरुष[१], प्रकृति[२], बुद्धि[३], अहंकार[४], तीन गुण[५-७], तन्मात्रा[८], इन्द्रिय[९] और भूतों[१०] की गणना दस मौलिक अर्थों में करते हैं।

सांख्यकारिका

सांख्यकारिका में इन सभी विषयों का परिचय दिया गया है, अतः समस्त विषयों का वर्णन होने से यह ग्रन्थ अपने में परिपूर्ण है। केवल ७० कारिकाओं के होने से इसे प्रकरण ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। षष्टितन्त्र में प्रतिपादित समस्त विषयों का समावेश इन कारिकाओं में हो गया है। अन्तर इतना ही है कि सांख्यकारिका में वहाँ की आख्यायिकाओं का और परमत के खण्डन वाले अंश का समावेश नहीं किया गया है—"आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिता-श्चापि" (का० ७२)।

सांख्यप्रवचन सूत्र

ईश्वरकृष्ण की इस उक्ति के आधार पर कुछ विद्वान् वर्तमान समय में उपलब्ध सांख्य सूत्रों को ही षष्टितन्त्र के नाम से पहिचानना चाहते हैं, क्योंकि इनमें इन सभी साठ विषयों के साथ आख्यायिकाओं का तथा परमत के खण्डन वाला अंश भी विद्यमान है। उनका कहना है कि कुछ सांख्य सूत्र १४वीं शताब्दी से पूर्व निर्मित ग्रन्थों में भी उद्धृत हैं। इसका सीधा सा समाधान यह है कि इस तरह के ग्रन्थों की भी स्थिति ११वीं शताब्दी से पहले किसी भी रूप में नहीं जा पाती। यह भी हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि ये सब उद्धरण सांख्य-प्रवचन सूत्रों से ही लिये गये हैं। इस काल से पूर्व के आचार्य शंकर आदि ने सांख्यकारिका को ही उद्धृत किया है और वाचस्पति, गौडपाद, माठर जैसे प्राचीन आचार्यों ने भी इसी पर भाष्य, टीका आदि की रचना की है। युक्तिदीपिका जैसी अतिमहनीय और विस्तृत टीका भी सांख्यकारिका पर ही लिखी गई है। सांख्यसूत्रों पर इस तरह की कोई प्राचीन टीका न तो उपलब्ध है और न कहीं उद्धृत ही है।

सांख्यप्रवचन सूत्रों को षष्टितन्त्र से अभिन्न इस लिए भी नहीं माना जा सकता कि अहिर्बुध्न्य संहिता (१२.१८-३१) में षष्टितन्त्र का परिचय देते समय प्राकृत और वैकृत नामक दो मंडलों का परिचय देकर प्राकृत मंडल में ब्रह्म, पुरुष, शक्ति, नियति, काल आदि बत्तीस मंडलों का तथा वैकृत मंडल में कृत्यकाण्ड, भोगकाण्ड आदि २८ काण्डों का परिगणन किया गया है। सांख्यप्रवचन सूत्रों में और सांख्यकारिका में भी हमें इस तरह का विभाग देखने को नहीं मिलता। स्पष्ट है कि ये दोनों भिन्न ग्रन्थ हैं। भारतीय विद्वत्समाज में सांख्यसूत्रों की अपेक्षा सांख्यकारिका को अधिक मान्यता मिली हुई है। हम भी यहाँ सांख्य तत्त्वों का विवेचन प्रधानतः सांख्यकारिका और वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी के आधार पर ही करेंगे।

२. आसुरि—पूर्व विवरण से स्पष्ट होता जाता है कि आसुरि कपिल के शिष्य तथा महाभारत में चर्चित पञ्चशिख के गुरु थे। योगसूत्र-व्यासभाष्य (१.३५) में उद्धृत पञ्चशिख के इस सूत्र—"आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच" से भी इस विषय की पुष्टि होती है। पञ्चशिख आसुरि के शिष्य थे, यह तथ्य महाभारत के अनेकों उद्धरणों से भी स्पष्ट होता है। ईश्वरकृष्ण की ७०वीं कारिका और श्रीमद्भागवत (१.३.१०) का वचन भी इसकी पुष्टि करता है। कई आधुनिक ऐतिहासिक विद्वान् आसुरि को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते। श्वेत से लेकर लकुलीश पर्यन्त २८ पाशुपताचार्यों के विषय में भी उनकी यही दृष्टि है। आचार्य शंकर के विषय में भी वे इसी तरह की छेड़छाड़ करते हैं और **हीन भावना से ग्रस्त कुछ भारतीय विद्वान् भी उनके निष्कर्षों को आँख मूँद कर मान लेते हैं। इस प्रवृत्ति पर रोक लगनी चाहिए।**

आसुरि की कोई कृति आज उपलब्ध नहीं है, तो भी जैन आचार्य हरिभद्र सूरि के षड्दर्शनसमुच्चय नामक ग्रन्थ के सांख्य प्रकरण में आसुरि के नाम से यह श्लोक उद्धृत है—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥

अन्य जैन ग्रन्थों में भी यह वचन उपलब्ध है। आगे के सांख्याचार्यों ने इस सिद्धान्त को मान्य किया है। पञ्चशिख के—"अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्त-चैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञान-वृत्तिराख्यायते" इस सूत्र में भी यही कहा गया है। महाभारत में आए कपिल-आसुरि संवाद से भी इस विषय की पुष्टि होती है।

३. पञ्चशिख—ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका के प्रमाण से यह बताया जा चुका है कि आसुरि के शिष्य प्रसिद्ध सांख्याचार्य पञ्चशिख ने अपने गुरु से प्राप्त ज्ञान-सम्प्रदाय का अपनी उत्कृष्ट मेधा-शक्ति के आधार पर विस्तार किया। षष्टितन्त्र की रचना के प्रसंग में आधुनिक विचारकों में मतभेद है। एक मत के अनुसार षष्टितन्त्र की रचना कपिल मुनि ने की। इस पर अहिर्बुध्न्य संहिता की सम्मति दी जा चुकी है। अन्य मत के अनुसार पञ्चशिख ही षष्टितन्त्र के रचयिता माने गये हैं। ६९-७० संख्या की कारिकाओं को देखने से ऐसा लगता है कि ईश्वरकृष्ण इसी मत के समर्थक हैं। 'समाख्यातम्' और 'कृतम्' शब्दों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि कपिल मुनि से आसुरि को मौखिक रूप से प्राप्त उपदेशों को पञ्चशिख ने लिपिबद्ध किया। भारतीय इतिहास में ऐसे

अनेक उदाहरण मिल जायेंगे, जिनमें गुरु की कृति शिष्य के नाम से और शिष्य की कृति गुरु के नाम से प्रसिद्ध हो गई। त्रिपुरा-सम्प्रदाय के दो आचार्यों— पुण्यानन्द और अमृतानन्द के विषय में ऐसा देखने को मिलता है।

व्यासभाष्य में स्मृत पञ्चशिख के एकवचन को अभी ऊपर उद्धृत किया गया है। महाभारत के अनुसार पञ्चशिख पराशर गोत्र में उत्पन्न हुए थे। इनकी आयु बड़ी लम्बी थी। पाञ्चरात्र शास्त्र के ये विशेषज्ञ थे। साथ ही ये पंचज्ञ, पंचकृत और पंचगुण भी थे। आचार्य नीलकण्ठ की टीका में इन शब्दों के अर्थ देखे जा सकते हैं। इनको पाञ्चरात्र विशारद कहा गया है। स्पष्ट है कि इन्होंने शतपथ ब्राह्मण में वर्णित अहिंसक पाञ्चरात्र के माध्यम से आदिपुरुष नारायण की उपासना की थी। नीलकण्ठ की व्याख्या के आधार पर हम पञ्चशिख को वेदान्त सम्प्रदाय का अनुयायी नहीं मान सकते। वस्तुतः ये महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में वर्णित सांख्यमत के साथ पाञ्चरात्र मत के भी अनुवर्ती थे। योगभाष्य और सांख्यतत्त्वकौमुदी में उद्धृत पञ्चशिख का—"स्यात् स्वल्पः संकरः" यह वचन वैदिक हिंसा की समालोचना करता है। नारायणीयोपाख्यान की वसु उपरिचर की कथा अहिंसा का समर्थन करती है। यहीं सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत और वेदारण्यक नामक पाँच सिद्धान्तों की चर्चा आई है।

वेदारण्यक से हम उपनिषदों का ग्रहण करेंगे। तब हम इस निष्कर्ष तक पहुँच सकते हैं कि उपनिषदों के साथ सांख्य, योग, पाञ्चरात्र और पाशुपत मतों का प्रारम्भिक विकास उसी तरह से स्वतन्त्र रूप से हुआ, जैसे बाद में जैन, लोकायत, बौद्ध आदि मतों का। यही मानना उचित है कि तन्त्रागमशास्त्र पर लिपि ज्ञान के अभाव में सिन्धु-सभ्यता के प्रभाव की चर्चा के समान सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तों पर औपनिषद प्रभाव की चर्चा भी प्राचीनतम सामग्री के अभाव में हम नहीं कर सकते।

यद्यपि आसुरि की भाँति ही आचार्य पञ्चशिख का भी कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, तथापि उनके सिद्धान्तों और विशिष्ट मतों के सूचक उद्धरण सांख्य-योग के प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। इनको डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र के ग्रन्थ "सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा" (पृ० १२७-१२८, १३१-१३२, १३८-१३९) में देखा जा सकता है। महाभारत शान्तिपर्व (२१९ अ०) में वर्णित पञ्चशिख के उपदेशों के सार को भी वहाँ (पृ० २४१-२४२) दिया गया है।

४. जैगीषव्य—जैगीषव्य भी प्राचीन सांख्याचार्य थे, यह बात महाभारत (शान्ति० २२९.३-४) में इनके सम्बन्ध में उपलब्ध उल्लेखों से ज्ञात होती है। शल्य पर्व (५०.५३-५५) में भी ऐसा उल्लेख है कि देवल ने जैगीषव्य के योग-प्रभाव को देखकर ही गार्हस्थ्य-धर्म को छोड़कर संन्यास-धर्म को अपनाया था।

शान्तिपर्व (२२९.४) से यह भी ज्ञात होता है कि देवल ने जैगीषव्य से ही ज्ञान प्राप्त किया था। जैगीषव्य सिद्धि-प्राप्त परम योगी थे, यह बात योगसूत्र (३.१८) के व्यास-भाष्य में उद्धृत आवट्य-जैगीषव्य संवाद से भी ज्ञात होती है। इस सूत्र में पूर्वजन्म के धर्माधर्म संस्कारों में चित्त का संयम करने से उनके साक्षात्कार की बात कही गई है। इसी के उदाहरण के रूप में व्यास-भाष्य में भगवान् विशेषण के साथ जैगीषव्य का स्मरण किया गया है। जीवन की दु:खरूपता को भी यहाँ दिखाया गया है, जो सांख्यशास्त्र की मुख्य दृष्टि है।

इस संवाद के अतिरिक्त एक दूसरा भी सन्दर्भ जैगीषव्य के नाम पर योगसूत्र के व्यासभाष्य में उद्धृत है—''चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्य:'' (२.५५) सूत्र में कहा गया है कि प्रत्याहार से उत्कृष्ट इन्द्रिय-जय प्राप्त हो जाता है। व्यास-भाष्य में इसी विषय पर विभिन्न पक्ष प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें से एक जैगीषव्य का उक्त पक्ष भी है। इसका अर्थ यह है कि चित्त की एकाग्रता से उत्पन्न विषयों की अप्रतिपत्ति ही इन्द्रिय-जय कहलाती है। भाष्यकार ने इसी पक्ष का समर्थन किया है। प्रस्तुत भाष्य की व्याख्या करते हुए वाचपति मिश्र ने जैगीषव्य को परमर्षि कहा है और इनके मत को सूत्रकार का स्वाभिमत बताया है। वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिक (३.२.४२) पर लिखित अपनी तात्पर्य टीका में भी जैगीषव्य-प्रोक्त धारणाशास्त्र की चर्चा की है। इन सबसे स्पष्ट हो जाता है कि जैगीषव्य प्राचीन काल के एक महनीय सांख्ययोगाचार्य थे।

५. **वार्षगण्य**—शान्ति पर्व के याज्ञवल्क्य-जनक संवाद में अन्य प्राचीन आचार्यों में वार्षगण्य का विशिष्ट स्थान है। सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका (का० ७१) में अनेक सांख्याचार्यों के जो नाम दिये गये हैं, उनमें इनका भी नाम है। सांख्यशास्त्र के प्राचीनतम आचार्यों की इस सूची में एक भी नाम ऐसा नहीं है, जो बुद्ध या पाणिनि के काल से अर्वाचीन हो। पाणिनि ने ''गर्गादिभ्यो यञ्'' (४.१.१०५) इस सूत्र से वार्षगण्य पद की सिद्धि की है। इससे पाणिनि की अपेक्षा इनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। प्रस्तुत स्थल पर पं० उदयवीर शास्त्री, श्री नाथूराम प्रेमी आदि के एवं चीनी तथा जापानी विद्वानों के मतों की चर्चा करते हुए डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र ने अपने ग्रन्थ (पृ० १६१-१६५) में वाचस्पति मिश्र के द्वारा अपनी भामती टीका में वार्षगण्य के नाम से उद्धृत—''गुणानां परमं रूपं.....तन्मायेव सुतुच्छकम्'' इस श्लोक को प्रस्तुत कर इसके अर्थ पर विचार किया है और बताया है कि योगभाष्य (३.५३) में व्यासदेव ने स्पष्ट रूप से वार्षगण्य को उद्धृत किया है और वाचस्पति मिश्र ने भी यहाँ अपनी तत्त्ववैशारदी व्याख्या में सांख्याचार्य के रूप में ही इन्हें प्रस्तुत किया है।

आचार्य वार्षगण्य के अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख सांख्य-योग दर्शन के प्राचीन साहित्यों में उपलब्ध होता है। सर्वाधिक उल्लेख सांख्यकारिका की प्राचीन टीका युक्तिदीपिका में हुआ है। प्रो० मिश्र जी ने अपने इतिहास-ग्रन्थ (पृ० १६७-१६८) में वार्षगण्य के इस तरह के वचनों को भी संगृहीत किया है। उन्हें वहीं देखना चाहिए।

६. ईश्वरकृष्ण—कुछ इतिहासज्ञ वार्षगण्य को ईश्वरकृष्ण से अभिन्न मानते हैं, तो अन्य इनको ईश्वरकृष्ण के गुरु के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसी तरह ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासी की अभिन्नता सिद्ध करने का भी प्रयत्न हुआ है। इन सब मतों की अवास्तविकता पर प्रो० मिश्र जी ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। कारण यह है कि वार्षगण्य से ईश्वरकृष्ण और ईश्वरकृष्ण से विन्ध्यवासी पर्याप्त परवर्ती हैं एवं कई महत्त्वपूर्ण विषयों पर इन तीनों में पर्याप्त मतभेद भी हैं। उदाहरण के रूप में ईश्वरकृष्ण १३ करण मानते हैं, तो वार्षगण्य और विन्ध्यवासी के मत में इनकी संख्या ११ है। इसी तरह इन तीनों आचार्यों के प्रत्यक्ष के लक्षण में भी भिन्नता है। यही स्थिति अनुमान के लक्षण की भी है। इन मतभेदों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये तीनों आचार्य पूरी तरह से एक दूसरे से भिन्न हैं।

यह बताया जा चुका है कि वार्षगण्य प्राचीन आचार्य हैं। महाभारत शान्ति पर्व (३१८.५९) में जैगीषव्य आदि प्राचीन आचार्यों के साथ इनका उल्लेख हुआ है। इसके विपरीत ईश्वरकृष्ण का महाभारत में कहीं भी उल्लेख नहीं है। इस तरह वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण से अत्यन्त प्राचीन आचार्य सिद्ध होते हैं। वार्षगण्य से अर्वाचीन होते हुए भी ये विन्ध्यवासी से प्राचीन हैं। ७० कारिकाओं के कारण सांख्यकारिका सांख्यसप्तति आदि कई नामों से प्रसिद्ध रही है और ऐतिहासिकों का कहना है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में इसकी रचना अवश्य हो चुकी थी। इसके विपरीत परमार्थ-कृत वसुबन्धुचरित के आधार पर विन्ध्यवासी का समय विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु के समय के आसपास तीसरी शताब्दी का अन्तिम भाग तथा चौथी शताब्दी का मध्यभाग माना गया है। तदनुसार विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण से कम से कम ढाई-तीन सौ वर्ष बाद हुए होंगे, ऐसी सम्भावना है।

कुछ विद्वान् ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवासी का परवर्ती आचार्य मानने के पक्ष में भी हैं। इस पक्ष का और इन दोनों आचार्यों की अभिन्नता को स्थापित करने वाले पक्ष का भी निराकरण कर प्रो० मिश्र ने इन दोनों आचार्यों के काल के विषय में ऊपर प्रदर्शित मत की ही पुनः स्थापना की है। ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्य-

कारिका आजकल सांख्यदर्शन का सर्वाधिक प्रचलित एवं मान्य ग्रन्थ है। इसी के आधार पर हम आगे इस दर्शन का परिचय देंगे।

७. **विन्ध्यवासी**—आचार्य ईश्वरकृष्ण के प्रसंग में विन्ध्यवासी की भी पर्याप्त चर्चा हो चुकी है। विन्ध्यवासी का निश्चित समय विज्ञानवाद के अप्रतिम आचार्य वसुबन्धु के समय-निर्धारण पर निर्भर है। चीनी परम्परा का अनुसरण करते हुए परमार्थ ने अपने ग्रन्थ वसुबन्धुचरित में लिखा है कि विन्ध्यवासी ने वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। वसुबन्धु अपने गुरु के पराजय का बदला चुकाने का विचार कर ही रहे थे कि इसी बीच विन्ध्यवासी का देहावसान हो गया। फिर वसुबन्धु ने अपने परमार्थसप्तति नामक ग्रन्थ में इनके सिद्धान्तों का खण्डन कर वह कार्य पूरा किया। इससे स्पष्ट होता है कि विन्ध्यवासी वसुबन्धु के वृद्ध समसामयिक थे। वसुबन्धु के समय में पर्याप्त मतभेद है। जैसा कि अभी ऊपर कहा गया, इनका समय तीसरी शताब्दी का अन्तिम भाग तथा चौथी शताब्दी का मध्य भाग माना जा सकता है।

भट्ट कुमारिल के श्लोकवार्तिक, तत्त्वसंग्रहपंजिका, षड्दर्शनसमुच्चय इत्यादि ग्रन्थों में और विशेषतः सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका में विन्ध्यवासी के कुछ सिद्धान्त उद्धृत हुए हैं। प्रो० मिश्र जी ने अपने ग्रन्थ (पृ० १७४-१७६) में उन सबको संकलित किया है। इसी तरह से यहाँ पंचाधिकरण (पृ० १८०) और पतञ्जलि (पृ० १८८) के उद्धृत वचन भी संगृहीत हैं। यह अतीव महत्त्वपूर्ण कार्य है। श्रद्धेय श्रीश्रीगोपीनाथ कविराज जी ने तथा इन पंक्तियों के लेखक ने भी दो भागों में लुप्तागम संग्रह के नाम से आगम-तन्त्रशास्त्र के लगभग ४०० ग्रन्थों के वचनों का संकलन किया था। उसी पद्धति पर सारनाथ के तिब्बती संस्थान से भी बौद्ध वचन संकलित है। प्रो० मिश्र के प्रस्तुत ग्रन्थ की पद्धति पर प्राचीन भारतीय वाङ्मय में उद्धृत सांख्य और योग सम्बन्धी वचनों का भी संकलन एवं अनुशीलन प्रस्तुत किया जा सकता है। तभी हम सांख्य और योगशास्त्र का सर्वांगपूर्ण स्वरूप प्रस्तुत कर सकते हैं।

ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका

ईश्वरकृष्ण के काल की और इनकी कृति सांख्यकारिका की पहले चर्चा आ चुकी है कि राजवार्त्तिक में सूचित षष्टितन्त्र के समस्त विषयों का इसमें समावेश होने से यह सांख्य दर्शन का समग्र ग्रन्थ है। इसके संक्षिप्त स्वरूप को देखकर इसे प्रकरण-ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। यह अलग बात है कि अहिर्बुध्न्य संहिता में वर्णित षष्टितन्त्र के विषय यहाँ चर्चित नहीं हैं। यह सांख्य दर्शन का लोकप्रिय ग्रन्थ है। आचार्य शंकर जैसे महनीय दार्शनिकों ने भी अपने

शारीरक भाष्य जैसे ग्रन्थों में सांख्य मत को स्मरण करते समय सांख्य सूत्रों का निर्देश न कर इन्हीं कारिकाओं को उद्धृत किया है। इस पर अनेक प्राचीन आचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं। चीनी भाषा में वृत्ति के साथ इस ग्रन्थ का अनुवाद परमार्थ ने छठी शताब्दी में किया था। चीनी भाषा में यह हिरण्यसप्तति, सुवर्णसप्तति जैसे नामों से जाना जाता है।

अहिर्बुध्न्य संहिता में षष्टितन्त्र के विषयों की जो सूची दी गई है, उससे ज्ञात होता है कि कपिल मुनि ने सेश्वर सांख्य का निरूपण किया था। महाभारत तथा पुराण-ग्रन्थों को देखने से भी इसकी पुष्टि होती है। सांख्यसूत्रों के टीकाकार विज्ञानभिक्षु भी पुराणों की पद्धति पर सेश्वर सांख्य के ही समर्थक हैं। इसके विपरीत सांख्यकारिका निश्चित रूप से निरीश्वर सांख्य का प्रतिपादन करती है। कुछ विद्वान् पूरे सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी और योगदर्शन को सांख्य का ही अंश मानकर उसकी सेश्वरवादी सांख्य के रूप में चर्चा करते हैं। यह उचित नहीं है। प्रारम्भ में सांख्य और योग दर्शन की दो भिन्न शास्त्रों के रूप में ही कृतान्तपंचक में गणना की गई थी। आजकल भी न्यायवैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्व-उत्तर मीमांसा की दृष्टि में समानता के कारण बहुत कुछ एकता मानते हुए भी षड् दर्शन के रूप में इनके पार्थक्य को ही मान्यता मिली हुई है। स्पष्ट है कि स्वयं सांख्य सेश्वर और निरीश्वर के रूप में विभक्त है और योग दर्शन तो सेश्वर है ही।

सांख्य दर्शन के इतिहास-ग्रन्थों में सांख्यकारिका की कारिका-संख्या को लेकर व्यर्थ का वितण्डावाद खड़ा कर दिया गया है, यह उचित नहीं है। विंशिका, त्रिंशिका, पंचाशिका, शतक, चतु:शती, पंचशती, सप्तशती, साहस्री के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्राय: सर्वत्र अल्प या अधिक श्लोक उपलब्ध होते हैं। उसी न्याय से सांख्यकारिका में भी ७२ कारिकाएँ हैं, इसको मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। परम्परा से अनभिज्ञ पाश्चात्य विद्वान् ऐसा करें, यह तो समझ में आता है, किन्तु भारतीय विद्वानों के लिए यह उचित नहीं है। प्रो० आद्या प्रसाद ने अतिविस्तार (पृ० १९४-२०४) से उक्त पक्ष को दिखाकर अन्तत: (पृ० २०४-२०५) सोदाहरण इसी बात को प्रस्तुत किया है। कूर्मपुराण में भगवती के १००८ नाम वर्णित हैं। कुछ भारतीय विद्वानों ने भी 'अष्टोत्तर सहस्रम्' शब्द का आठ हजार अर्थ कर दिया है।

सांख्यकारिका की टीकाएँ

हम बता चुके हैं कि सांख्य सूत्रों की अपेक्षा सांख्यकारिका पर अनेक महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गई हैं और उनमें से प्राय: सभी का प्रकाशन भी हो चुका है। इनमें से **माठर वृत्ति** सब से प्राचीन मानी जाती है। आचार्य माठर

कनिष्क के समसामयिक माने जाते हैं। अनुयोगद्वार नामक जैन-ग्रन्थ के आधार पर भी इनका समय प्रथम शताब्दी माना गया है। **युक्तिदीपिका** की भाषा उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक की भाषा से मिलती-जुलती है। टीकाकार का नाम अब तक ज्ञात नहीं हो सका है, किन्तु उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक के रचनाकाल चौथी-पाँचवी शताब्दी के आस-पास ही युक्तिदीपिका की रचना हुई, यह माना जा सकता है। अतः इन टीकाकारों में इनको दूसरा स्थान देना उचित होगा। सांख्य और योगशास्त्र के प्राचीन आचार्यों और उनके सिद्धान्तों की सूचना देने के कारण इस टीका का भारतीय वाङ्मय में अति विशिष्ट स्थान है।

सांख्यकारिका पर तीसरी रचना **गौडपाद भाष्य** है। गौडपाद का समय छठी-सातवीं शताब्दी के आस-पास है। ये माण्डूक्यकारिका के रचयिता, आचार्य शंकर के परम गुरु गौड़पादाचार्य से भिन्न हैं या अभिन्न? इस प्रश्न का निर्णय होना अभी बाकी है। इस ग्रन्थ पर चौथी महत्त्वपूर्ण टीका आचार्य वाचस्पति मिश्र की **सांख्यतत्त्वकौमुदी** है। स्वयं इनके और न्यायाचार्य उदयन के भी प्रमाण पर इनका समय नवम शताब्दी निश्चित हो चुका है। युक्तिदीपिका के बाद सांख्यकारिका की यह अति महत्त्वपूर्ण टीका है। आजकल सांख्य दर्शन का अध्ययन प्रायः इसी की सहायता से किया जाता है। हम भी इसी के आधार पर सांख्य दर्शन का संक्षिप्त स्वरूप प्रदर्शित करेंगे। वाचस्पति मिश्र ने छहों दर्शनों पर महनीय ग्रन्थ लिखे हैं।

जयमंगला टीका के रचयिता शंकराचार्य माने जाते हैं। आद्य शंकराचार्य से इनका कोई सम्बन्ध नहीं लगता। यह माना जा सकता है कि शंकराचार्य की परम्परा में विद्यमान किसी आचार्य ने इसकी रचना की हो। इनकी स्थिति वाचस्पति मिश्र के बाद ही मानना उचित होगा। जयमंगला टीका को कुछ विद्वान् वाचस्पति मिश्र की टीका से पहले रखना चाहते हैं और अन्य विद्वानों का कहना है कि यह चौदहवीं शताब्दी की रचना है। इन दोनों ही मतों की समीक्षा अपेक्षित है। नारायण तीर्थ १७वीं शताब्दी के लेखक हैं। इनकी **चन्द्रिका** नाम की टीका प्रकाशित हो चुकी है। नारायण तीर्थ ने अन्य भी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। वाचस्पति मिश्र के समान ये भी नाना शास्त्रों के विद्वान् थे। सांख्यकारिका पर अन्तिम महत्त्वपूर्ण टीका लिखने वाले आचार्य **हरिहरानन्द** आरण्यक १९वीं-२०वीं शती के आचार्य हैं। इन्होंने योगभाष्य पर भी भास्वती नाम की टीका लिखी थी। सांख्यतत्त्वालोक भी इनकी कृति है। नरसिंह स्वामी का सांख्यतरुवसन्त अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें वेदान्त के सिद्धान्तों के साथ सांख्य के सिद्धान्तों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। इसके

अतिरिक्त ऊपर प्रदर्शित सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। वैष्णव परमार्थसार भी इसी दृष्टि का अनुवर्तन करता है।

सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार

षडध्यायी सांख्यप्रवचन सूत्र तथा संक्षिप्त तत्त्वसमास सूत्र का परिचय डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र ने अपने ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय (पृ० ७२-११३) में विस्तार से दिया है। इनको कपिल मुनि की ही रचना मानी जाती है। इन पर कोई प्राचीन टीका उपलब्ध नहीं है। इनमें सांख्यप्रवचन सूत्र की अपेक्षा तत्त्वसमास सूत्र की व्याख्याएँ प्राचीन हैं। प्रथम ग्रन्थ की पाँच तथा द्वितीय ग्रन्थ की छः व्याख्याएँ अब तक उपलब्ध हुई हैं। इनमें से किसी का भी रचना काल १४वीं-१५वीं शती से पहले सिद्ध नहीं हो पाता।

सांख्यप्रवचन सूत्र की प्राचीनतम उपलब्ध टीका अनिरुद्ध-कृत वृत्ति है। इसी वृत्ति का अनुसरण करते हुए महादेव वेदान्ती ने वृत्तिसार नामक व्याख्या लिखी। इन दोनों व्याख्याओं के अतिरिक्त इन सूत्रों का विज्ञानभिक्षुकृत भाष्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट की भी व्याख्या प्रकाशित हो चुकी है। इस पर रामभद्र यति के किसी भाष्य की भी व्याख्या उपलब्ध हुई है।

तत्त्वसमास सूत्र की छः टीकाओं में क्रमदीपिका नामक तत्त्वसमास सूत्र-वृत्ति सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। कर्ता का नाम उपलब्ध नहीं है। यह व्याख्या पर्याप्त संक्षिप्त है, किन्तु इससे भी संक्षिप्त दो टीकाएँ हैं। एक का नाम सर्वोपकारिणी और दूसरी का नाम सांख्यसूत्र-विवरण है। इनके भी रचयिताओं के नाम उपलब्ध नहीं होते। क्रमदीपिका से अपेक्षाकृत विस्तृत दो व्याख्याएँ और भी हैं। इनमें से एक विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश की तत्त्वयाथार्थ्यदीपन है और दूसरी विद्यानन्द नामक व्यक्ति की सांख्यतत्त्वविवेचन व्याख्या है। ये सभी ग्रन्थ सांख्य-संग्रह के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। कापिलसूत्र विवरण का प्रकाशन कलकत्ता से बहुत पहले हुआ था। इन सबका विशेष विवरण उक्त ग्रन्थ (पृ० ३०१-३४९) में देखा जा सकता है। इस प्रसंग में 'अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्षु की विशिष्ट मान्यताएँ' शीर्षक प्रकरण भी विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

विज्ञानभिक्षु सांख्य-दर्शन के अन्तिम विशिष्ट आचार्य हैं। १६वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में ये काशी में विद्यमान थे। ये बड़े स्वतन्त्र विचार के सांख्याचार्य थे। इन्होंने सांख्य और वेदान्त में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है और सांख्यकारिका के निरीश्वर सांख्य का खण्डन कर सेश्वर सांख्य की स्थापना में महनीय परिश्रम दिया है। इन्होंने सांख्यप्रवचन भाष्य, योगवार्त्तिक (व्यास भाष्य

पर) और विज्ञानामृत भाष्य (ब्रह्मसूत्र) जैसे विशिष्ट ग्रन्थों की रचना की है। साथ ही सांख्यसार और योगसार जैसे ग्रन्थों की रचना कर इन दर्शनों को सुबोध बनाया है। डॉ० एस०एन० दासगुप्त ने अपने भारतीय दर्शन के इतिहास के तृतीय भाग में विज्ञानभिक्षु पर स्वतन्त्र अध्याय की रचना की है।

सांख्य दर्शन का प्रयोजन

जैसा की पहले सूचित किया गया है, सांख्यकारिका और सांख्यतत्त्व-कौमुदी के आधार पर अब हम संक्षेप में सांख्य-दर्शन को प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ प्रारम्भ की दो कारिकाओं में सांख्य-दर्शन की प्रवृत्ति का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक नामक त्रिविध दु:खों से पूरी मानव जाति पीड़ित है। आधि (मानसिक) और व्याधि (शारीरिक) के नाम से आध्यात्मिक दु:ख दो प्रकार का है। आधिभौतिक दु:ख मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के कारण तथा आधिदैविक दु:ख ग्रह आदि के आवेश से प्राप्त होता है। नाना प्रकार के लौकिक उपचारों से कभी-कभी इनकी निवृत्ति नहीं होने पाती। एक बार निवृत्ति हो जाने पर भी पुनः इनका आक्रमण नहीं होगा, इसकी कोई गारण्टी नहीं है। इसी तरह से वैदिक उपायों के विषय में भी कहा जा सकता है। वृष्टि के लिए कारीरी याग का विधान है। इसका अनुष्ठान करने पर भी कभी-कभी वृष्टि नहीं होती और एक बार वृष्टि के हो जाने पर पुनः अनावृष्टि नहीं होगी, ऐसा कोई कह नहीं सकता। प्रथम श्लोक में पठित इन दो दोषों के अतिरिक्त आनुश्रविक (वैदिक) उपायों में अन्य भी तीन दोष हैं। ये अविशुद्धि (हिंसा), क्षय और अतिशय से युक्त हैं, अर्थात् यज्ञ-याग आदि में पशुहिंसा होती है, 'स्वल्पः संकरः' जैसे आचार्य पञ्चशिख के सूत्रों में भी इसकी चर्चा मिलती है। इसके अतिरिक्त यज्ञीय पुण्य का क्षय होने पर उसे वापस जन्म लेना पड़ता है और इन अनुष्ठानों में किसी का फल कम तो अन्य का अधिक होता है, अर्थात् वहाँ विषमता है। सांख्य-दर्शन में निर्दिष्ट उपाय इन सभी दोषों से रहित है, अतः श्रेष्ठ है। यह उपाय है—व्यक्त (जगत्), अव्यक्त (प्रकृति) और ज्ञ (पुरुष) के यथार्थ स्वरूप का विशिष्ट ज्ञान। आगे के पूरे ग्रन्थ में इन्हीं तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को समझाया गया है और अन्त में कहा गया कि सम्यग् ज्ञान की सहायता से तत्त्वज्ञ पुरुष ऐकान्तिक और आत्यन्तिक कैवल्य को प्राप्त कर लेता है (६७-६८ का०)। यही है सांख्य-दर्शन के अध्ययन का प्रयोजन।

त्रिविध प्रमेय

तीसरी कारिका में व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ के स्वरूप को अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है। वहाँ मूल प्रकृति के विषय में बताया गया है कि

सत्त्व, रज और तम नामक तीनों गुणों की सम्यावस्था को ही प्रकृति अथवा प्रधान कहा जाता है। यह अविकृति है, अर्थात् इसमें विकार का प्रवेश नहीं होता। महान् (बुद्धि), अहंकार और पंचतन्मात्रा—ये सात तत्त्व प्रकृति-विकृति विभाग के अन्तर्गत आते हैं, अर्थात् महान् प्रकृति की विकृति और अहंकार की प्रकृति है। अहंकार महान् की विकृति और पंचतन्मात्रा की प्रकृति है। इसी तरह पंचतन्मात्रा अहंकार की विकृति और पंच महाभूत की प्रकृति है। बाकी बचे १६ तत्त्व केवल विकृति कहलाते हैं, अर्थात् इनसे अन्य किसी तत्त्व की उत्पत्ति नहीं होती। इनमें से मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से तथा पंचमहाभूतों की उत्पत्ति पंच तन्मात्राओं से मानी गई है। पुरुष तत्त्व न तो किसी की प्रकृति है और न विकृति ही। इस तरह से प्रस्तुत कारिका में सांख्य-दर्शन सम्मत २५ तत्त्वों का खाका खड़ा किया गया है। आगे इन पर विस्तार से विचार किया जायेगा।

त्रिविध प्रमाण

प्रमेयों की सिद्धि प्रमाण से ही होती है, अतः आगे की तीन कारिकाओं में प्रमाण सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किया गया है। सांख्य-योग दर्शन में और इनसे अनुप्राणित आगमों में दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान और आप्तवचन (शब्द) नामक तीन प्रमाण मान्य हुए हैं, क्योंकि अन्य उपमान आदि प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रत्येक विषय के साथ बुद्धि तत्त्व का अध्यवसाय (यथार्थ ज्ञान) वृत्ति का संयुक्त होना ही दृष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाण कहलाता है। लिंग (व्याप्य = धूम) की सहायता से लिङ्गी (व्यापक = वह्नि) का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान प्रमाण कहलाता है। पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट के भेद से यह तीन प्रकार का होता है। नदी में आई बाढ़ को देखकर वृष्टि का अनुमान पूर्ववत् से, शब्द आकाश का गुण है, इसका ज्ञान शेषवत् से और बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता, इसका अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होता है। कपिल आदि प्रामाणिक व्यक्तियों के युक्तियुक्त उपदेश आप्त वचन (शब्द प्रमाण) के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इन तीन प्रमाणों में ही अन्य सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाने से यहाँ ये तीन ही प्रमाण माने गये हैं। वाचस्पति मिश्र ने पाँचवीं कारिका की व्याख्या में उपमान अर्थापत्ति और संभव प्रमाणों का अनुमान में, अभाव का प्रत्यक्ष में और ऐतिह्य का आप्तवचन में समावेश किया है। आगे की छठी कारिका में बताया गया है कि अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रतीति सामान्यतोदृष्ट अनुमान से तथा अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध न होने वाले परोक्ष पदार्थों की सिद्धि आप्तागम से होती है। सातवीं कारिका में इन आठ कारणों को दिखाया गया है, जिनके कारण वस्तु के रहते हुए भी उनकी प्रतीति नहीं होती। जैसे कि—बहुत दूर की वस्तु हमें दिखाई नहीं

पड़ती। इसी तरह अत्यन्त समीपता के कारण आँख में लगा अञ्जन हमें नहीं दिखाई पड़ता। इन्द्रियों में अन्धत्व, बधिरत्व आदि दोषों के आ जाने पर, मन के अव्यवस्थित रहने पर, अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण, भित्ति आदि का व्यवधान आ जाने पर, दिन के प्रकाश से तारागण के प्रकाश के अभिभूत हो जाने पर और समान आकार-प्रकार की वस्तु में मिल जाने पर वस्तु के रहते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती। वाचस्पति मिश्र ने अनुद्भव (पैदा न होना) का भी यहाँ संग्रह किया है, क्योंकि दुग्धावस्था में दध्यवस्था की प्रतीति अनुद्भव के कारण नहीं होती। व्याकरण महाभाष्य में भी इनमें से कुछ कारणों का परिगणन इस तरह से किया गया है—"षड्भिः कारणैः सतां भावानामनुपलब्धिर्भवति, अतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षान्मूर्त्यन्तरव्यवधानात् तमसावृतत्वादिन्द्रियदौर्बल्यादति-प्रमादादिति" (४.१.३)। महाभाष्य में छः ही कारण बताये गये हैं और उनके नामों में भी अन्तर है। 'तमसावृतत्वात्' हेतु का सांख्यकारिका में उल्लेख नहीं है।

इस प्रकार सातवीं कारिका में वस्तुओं के रहते हुए भी उनकी उपलब्धि नहीं होती, यह दिखाकर आठवीं कारिका में यह बताया गया है कि प्रधान की भी उपलब्धि उसके अव्यक्त होने से, अत्यन्त सूक्ष्म होने से नहीं हो पाती। इससे उसके अभाव को सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि त्रिगुणात्मक महत्तत्त्व आदि कार्यों को देखकर सामान्यतोदृष्ट अनुमान से तदनुरूप कारण के रूप में प्रकृति तत्त्व की सत्ता को मानना ही पड़ता है। व्यक्त तत्त्व के रूप में जाने गये ये महत् आदि कार्य कुछ मानों में प्रकृति के समान हैं और कुछ असमान। साधर्म्य-वैधर्म्य प्रकरण में अभी आगे इनको दिखाया जाएगा।

सत्कार्यवाद

भारतीय दर्शनों में न्याय-वैशेषिक परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। सांख्य दर्शन को सत्कार्यवाद अभिप्रेत है। इनके मत से जगत् की उत्पत्ति नहीं, अभिव्यक्ति होती है। तीसरा पक्ष वेदान्तियों का है। ये विवर्तवादी हैं। इनके मत से जगत् ब्रह्म का विवर्त है। सांख्यकारिका की नवीं कारिका में सत्कार्यवाद की स्थापना की गई है। इनका मानना है कि प्रत्येक कार्य अपने कारण में पहले से विद्यमान रहता है। कूर्म (कछुआ) के अंगों की तरह मानव के प्रयत्न से मृत्तिका से घट के समान, तन्तुओं से पट के समान इनकी अभिव्यक्ति होती है। इस सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिए यहाँ पाँच हेतु दिये गये हैं।

पहला हेतु—**असदकरणात्**। कारण व्यापार से पहले यदि वस्तु विद्यमान नहीं है, तो उसे कोई भी बना नहीं सकता। कितने ही कारीगर लग जाँय, वे नीली वस्तु को पीला नहीं बना सकते। इससे कारण में कार्य की सत्ता पहले से

विद्यमान है, यह सिद्ध हो जाता है। दूसरा हेतु है—**उपादानग्रहणात्**। तिल से ही तैल निकलता है, बालू से नहीं, मिट्टी से घड़ा बनता है, धागे से नहीं; इस तरह के नियम को देखकर व्यक्ति जिस वस्तु को चाहता है, उसके उपादान तिल, मिट्टी, तन्तु आदि को ग्रहण करता है। इससे भी सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है। यहाँ तीसरा हेतु है—**सर्वसम्भवाभावात्**। सभी वस्तुओं से घट पट आदि कार्यों की निष्पत्ति नहीं होती, मृत्तिका-तन्तु आदि सम्बद्ध कारणों से ही इनकी अभिव्यक्ति हो पाती है। सत्कार्यवाद की सिद्धि में चौथा गुण है—**शक्तस्य शक्यकरणात्**। पट आदि के निर्माण में समर्थ तन्तु आदि से ही पट आदि का निर्माण किया जा सकता है। इसी तरह **कारणभावाच्च** इस पाँचवें हेतु से भी सत्कार्यवाद सिद्ध होता है कि कार्य और कारण में कोई भेद नहीं माना जाता, ये दोनों एक ही हैं। पदार्थ की व्यक्तावस्था **कार्य** और अव्यक्तावस्था **कारण** कहलाती है। इन पाँच हेतुओं के आधार पर हम यह कह सकने की स्थिति में हैं कि प्रत्येक कारण में उसका कार्य छिपा हुआ है। यही स्थिति सांख्य दर्शन में **सत्कार्यवाद** के नाम से जानी जाती है। यहाँ कार्य की उत्पत्ति नहीं, अभिव्यक्ति होती है।

साधर्म्य-वैधर्म्य

सत्कार्यवाद की सिद्धि के बाद अगली दो कारिकाओं में अव्यक्त प्रकृति और व्यक्त प्रधान आदि का वैधर्म्य और साधर्म्य और इन दोनों के साथ पुरुष का साधर्म्य-वैधर्म्य वर्णित है। वह इस प्रकार है—व्यक्त जगत् (महान् से पंचभूत पर्यन्त) हेतुमत् है, अर्थात् इनका कोई न कोई कारण विद्यमान है। ये सभी अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेक किसी न किसी पर आश्रित और प्रधान (प्रकृति) के लिङ्ग हैं। इसी तरह से ये सावयव (अवयव वाले) और परतन्त्र भी हैं। इनके विपरीत प्रकृति का कोई हेतु नहीं है। वह नित्य, व्यापक, निष्क्रिय और एक है। वह किसी पर आश्रित नहीं है और न किसी का लिङ्ग ही है। वह निरवयव और स्वतन्त्र है।

व्यक्त और अव्यक्त के वैधर्म्य के बाद इनका साधर्म्य इस तरह से वर्णित है—व्यक्त और अव्यक्त (प्रधान) दोनों ही त्रिगुणात्मक हैं। इनमें विवेक बुद्धि नहीं है, ये सब विषय कहलाते हैं, इसीलिए सामान्य रूप से ये सबके उपभोग्य हैं। ये सब अचेतन हैं और परिणमनशील हैं। अभिप्राय यह है कि त्रिगुण इत्यादि छः धर्म व्यक्त और अव्यक्त दोनों में समान रूप से स्थित हैं।

इस प्रकार 'प्रकृतिसरूपं विरूपं च' (का० ८) इस कारिका में सूचित महत् आदि कार्य (व्यक्त) की प्रकृति (अव्यक्त) के साथ सरूपता (साधर्म्य) और विरूपता (वैधर्म्य) को बता कर ११वीं कारिका के चतुर्थ चरण में पुरुष के साथ

इनके साधर्म्य और वैधर्म्य को दिखाया गया है—''तद्विपरीतस्तथा च पुमान्''। इसके अर्थ को सावधानी से समझने की आवश्यकता है। **तद्विपरीतः** का अर्थ यह है कि पुरुषतत्त्व में ११वीं कारिका में बताये गये व्यक्त और प्रधान के त्रिगुण आदि धर्म विद्यमान नहीं है, अर्थात् पुरुष निर्गुण, विवेकी, अविषय, विशेष स्थिति वाला, चेतन और अप्रसवधर्मी है। इसी तरह पुरुष **तथा च** है, अर्थात् १०वीं कारिका में वर्णित अव्यक्त के अहेतुमत्, नित्य, व्यापी, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, निरवयव और स्वतन्त्र रूपी विशेषण (धर्म) पुरुष में भी विद्यमान हैं।

त्रिगुण-स्वरूप

इस प्रकार व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) का सामान्य स्वरूप यहाँ प्रतिपादित हुआ है। **त्रिगुण** शब्द यहाँ आया है। अतः अगली दो कारिकाओं में इन्हीं का स्वरूप बताया गया है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण हैं। प्रीति=सुख, अप्रीति=दुःख और विषाद=मोह—ये क्रमशः इनके स्वभाव हैं। प्रकाश, प्रवृत्ति और नियमन करना क्रमशः इनका प्रयोजन है। आपस में एक दूसरे को अभिभूत करना, एक दूसरे का सहारा लेना, एक दूसरे को पैदा करना और कभी-कभी एक दूसरे के साथ रहना इनका स्वभाव है। इनमें से सत्त्व गुण स्फूर्ति देने वाला और प्रकाशक है, रजोगुण चलनशील एवं उत्साहवर्धक है तथा तमोगुण भारीपन लिए हुए है, इसीलिये यह मनुष्य की बुद्धि पर आवरण डाल देता है। इस तरह से ये सभी गुण भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हैं, तो भी दीपक के समान मिलकर ये पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ होते हैं। तैल, रूई और अग्नि परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, किन्तु दीपक के रूप में मिलकर ये अन्धकार में वस्तु को प्रकाशित करते हैं, उसी तरह परस्पर विपरीत स्वभाव वाले ये तीनों गुण पुरुषार्थ की सिद्धि में समर्थ होते हैं।

अव्यक्त की सिद्धि

''त्रिगुणमविवेकी'' (११ का०) इस कारिका में त्रिगुण के साथ अविवेकी जैसे धर्म भी निदिष्ट हैं। इनके विषय में १४वीं कारिका में बताया गया है कि त्रिगुणात्मकता के कारण ही ये सभी धर्म व्यक्त और अव्यक्त दोनों में विद्यमान रहते हैं। पुरुष निर्गुण है, इसीलिए उसमें अविवेक आदि की स्थिति कभी नहीं रहती। सत्कार्यवाद के सहारे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कार्य में वे ही गुण संक्रान्त होते है, जो कारण में विद्यमान हों। इस आधार पर अनुमान के आधार पर त्रिगुणात्मक अव्यक्त (प्रकृति) की भी स्थिति स्थापित हो जाती है।

अगली दो कारिकाओं में अव्यक्त की सिद्धि करने वाले हेतुओं को दिखा कर उसकी प्रवृत्ति के प्रकार को भी बतलाया गया है। महान् से लेकर पंच महाभूत

पर्यन्त समस्त भेदों का कार्य कारणात्मक जगत् का आविर्भाव जिससे होता है और जिसमें इन सबका तिरोधान हो जाता है, वही **अव्यक्त** तत्त्व है। कारण शक्ति के आधार पर ही कार्य का स्वरूप बनता है, अतः इस त्रिगुणात्मक जगत् का कारण भी त्रिगुणात्मक होना चाहिए। यह सारा भेदात्मक जगत् परिमित (अव्यापक) है, अतः इसका कोई अपरिमित कारण होना चाहिए। संसार के समस्त पदार्थ सुख, दुःख और मोह से संयुक्त हैं, समन्वय के आधार पर इन सबके मूल कारण का भी यही स्वरूप होगा और वही अत्यतम कहलायेगा। इस प्रकार इन हेतुओं से महान् से लेकर पंचमहाभूत पर्यन्त तत्त्वों की क्रमशः जिससे अभिव्यक्ति होती है और महाभूत से लेकर महान् तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्व जिसमें उपसंहृत हो जाते हैं, वही मूल तत्त्व **प्रकृति** कहलाती है। उसे ही अव्यक्त भी कहते हैं। यह अव्यक्त तत्त्व अपनी त्रिगुणात्मक स्थिति के कारण निरन्तर विविध रूपों में परिणत होता रहता है और गुणों का गुण-प्रधान भाव से समुदय होने से यह नाना रूप धारण करता रहता है। वर्षा का जल तो सर्वत्र एक रस रहता है, किन्तु इक्षु, निम्ब, आमलक आदि में पहुँच कर वह षड् रस के रूप में परिणत हो जाता है, उसी तरह से प्रकृति भी विविध गुणों के सहारे नाना आकार ग्रहण कर लेती है।

पुरुष की अनेकता

दो कारिकाओं में अव्यक्त की सिद्धि के प्रकार को बताने के उपरान्त १७वीं कारिका में पुरुष (आत्मा) की और १८वीं में उसके बहुत्व की सिद्धि के प्रकार को दिखाकर १९वीं कारिका में उसमें साक्षित्व आदि धर्मों की स्थिति को बताया गया है। पुरुष की सिद्धि के लिए पाँच और पुरुष की अनेकता में तीन हेतु दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—संघातपरार्थत्वात्, अव्यक्त से लेकर महाभूत पर्यन्त सभी तत्त्व संघातात्मक हैं। इसका उपभोग करने वाला कोई होना चाहिए। इस प्रकार संघात के उपभोक्ता के रूप में पुरुष की सिद्धि होती है। पुरुष की सिद्धि में दूसरा हेतु है—त्रिगुणादिविपर्ययात्। पुरुष के संघातात्मक न होने से इसमें त्रिगुणात्मकता भी नहीं रह सकती। इससे आत्मा की निर्गुणता स्थापित होती है। तीसरा हेतु है—अधिष्ठानात्। जैसे सारथि रथ का संचालन करता है, उसी तरह इस संघातात्मक शरीर का भी कोई संचालक होना चाहिए। जो संचालक है, वही आत्मा है। भोक्तृभावात् इस हेतु से भी पुरुष का अस्तित्व स्थापित होता है। प्रत्येक शरीर में सुख-दुःख की अनुभूति होती है। जिसको यह अनुभूति होती है, वही पुरुष (आत्मा) है। इसी प्रकार कैवल्य के लिए, सांसारिक भोगों से विरक्ति हो जाने पर इनसे छुटकारा पाने के लिए भी व्यक्ति प्रवृत्त होता है, जिसमें यह प्रवृत्ति होती है, वही पुरुष है। इस प्रकार इन हेतुओं से पुरुष की सिद्धि होती है।

सांख्य दर्शन पुरुष (आत्मा) की अनेकता का पक्षपाती है। आत्मा की अनेकता को यहाँ इस प्रकार स्थापित किया गया है। प्रत्येक शरीर के जन्म और मृत्यु की और उसमें स्थित १३ प्रकार के कारणों (बुद्धि, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय) की अपनी-अपनी व्यवस्था है, आत्मा को एक मानने पर यह संभव नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति भिन्न प्रकार की होती है। आत्मा की एकता मानने पर यह भी संभव नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वत्र यदि एक ही आत्मा है, तो सर्वत्र एक ही प्रकार की प्रवृत्ति होगी, भिन्न प्रकार की नहीं। 'त्रैगुण्यविपर्ययात्' यह आत्मा की अनेकता का साधक तीसरा हेतु है। स्वर्ग लोक के सत्त्व (जीव) सत्त्व गुण प्रधान हैं, मनुष्य रजोगुण प्रधान और पशु-पक्षी तमोगुण बहुल हैं। इस प्रकार इन तीनों गुणों के विपर्यय के कारण भी आत्मा की एकता स्थापित नहीं की जा सकती। इन तीनों हेतुओं के आधार पर आत्मा (पुरुष) की अनेकता ही सिद्ध हो पाती है, एकता नहीं।

पुरुष की अनेकता के साथ उसमें साक्षित्व, द्रष्टृत्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य और अकर्तृत्व गुणों की भी सिद्धि होती है। 'त्रिगुणम्' (११ का०) इत्यादि कारिका में पुरुष के व्यक्त और प्रधान से वैधर्म्य को दिखाया गया है। पुरुष चेतन है, अतः वह साक्षी और द्रष्टा है। त्रिगुण से रहित होने से वह केवल है और इसीलिए वह मध्यस्थ है। पुरुष विवेकी है और उसमें किसी प्रकार का बदलाव नहीं होता, अतः वह अकर्ता है। इसी के साथ दूसरी कारिका में सूचित व्यक्त और अव्यक्त के साथ पुरुष के विज्ञान का प्रकरण पूरा हो जाता है।

प्रकृति-पुरुष संयोग

इससे ज्ञात होता है पुरुष चेतन है और कर्तृत्व प्रकृति में है। हमारा अनुभव इसके विपरीत है। "चेतनोऽहं चिकीर्षन् करोमि" इस वाक्य से कृति और चैतन्य का सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है। वह इस दर्शन में संभव नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ चेतन पुरुष में कर्तृत्व नहीं है और कर्त्री प्रकृति में चेतनता नहीं है। इश शंका का समाधान २०वीं और २१वीं कारिका में किया गया है। अगली कारिका में प्रदर्शित पद्धति से प्रकृति और पुरुष में परस्पर सम्पर्क स्थापित होता है। इस संयोग के कारण अचेतन लिंग में चैतन्य का आभास होने लगता है और पुरुष के उदासीन होने पर भी गुणों के सम्पर्क के कारण उसमें कर्तृत्व का आभास। इस प्रकार इनके परस्पर के संयोग से यह भ्रान्ति पैदा हो जाती है। आगे बतलाया जायेगा कि इस भ्रान्ति के हट जाने पर पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति होती है, वह पुनः अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

बात यह है कि यह व्यक्ताव्यक्तात्मक सारा जगत् भोग्य है। इसे भोक्ता की अपेक्षा रहती है, अर्थात् प्रधान की पुरुष के दर्शन के लिए प्रवृत्ति होती है। इसी

तरह से सुख-दुःख-मोहात्मक भोगों से परेशान हो पुरुष कैवल्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है। इस प्रकार भोग और अपवर्ग के लिए प्रकृति और पुरुष का परस्पर संयोग बनता है और इस संयोग से ही सारी सृष्टि होती है। इस बात को समझाने के लिए यहाँ पंगु (लँगड़ा) और अन्धे आदमियों का दृष्टान्त दिया गया है। लँगड़ा चल नहीं सकता, किन्तु वह देख सकता है। इसी तरह अन्धा देख नहीं पाता, किन्तु वह चल सकता है। अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए ये परस्पर सहयोग करते हैं। लँगड़ा अन्धे के कन्धे पर चढ़कर उसकी लकड़ी पकड़कर उसको रास्ता दिखाता है और अन्धा चलकर अपने गन्तव्य तक पहुँच जाता है। इस प्रकार ये परस्पर के संयोग से अपनी अभीष्ट-सिद्धि करते हैं, उसी तरह प्रकृति और पुरुष का भी संयोग भोग और अपवर्ग रूपी प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है। इस विषय को योग दर्शन के प्रकरण (पृ० ४१) में भी देखा जा सकता है।

सृष्टि का क्रम

प्रकृति और पुरुष के संयोग से सारी सृष्टि होती है, यह अभी बताया गया है। आगे की कारिका में सृष्टि क्रम को दिखाया गया है। वह इस प्रकार है— प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, अहंकार से षोडश तत्त्वों का गण (ग्यारह इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्रा) तथा पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूतों की सृष्टि होती है। अर्थात् प्रकृति से इन तेईस तत्त्वों की क्रमशः निष्पत्ति होती है। आगे लक्षण और भेद के साथ इनका स्वरूप बताया गया है।

तत्त्वों का परिचय

प्रकृति से महान्, अर्थात् बुद्धि प्रथमतः निष्पन्न होती है। किसी अध्यवसाय, अर्थात् निश्चय पर पहुँचना इसका स्वभाव है। धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य—ये चार सात्त्विक बुद्धि के धर्म हैं और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य—ये चार तामस बुद्धि के। राजस बुद्धि की दोनों में समान वृत्ति मानी गई है।

महान् (बुद्धि) के बाद अहंकार की सृष्टि होती है। अभिमान इसकी वृत्ति है। इससे दो तरह के तत्त्वों की सृष्टि प्रवृत्त होती है—एकादश इन्द्रियों का समूह और पाँच तन्मात्राओं का समूह। इनमें सात्त्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की और तामस अहंकार से तन्मात्राओं की सृष्टि मानी गई है। राजस अहंकार की दोनों प्रकार की सृष्टियों में समान भूमिका है। इस कारिका में सात्त्विक, राजस और तामस शब्दों के स्थान पर वैकृत, तैजस और भूतादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

सात्त्विक अहंकार से पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन नामक एकादश गण की सृष्टि मानी गई है। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और त्वक्—ये

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन की स्थिति उभयात्मक है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के साथ यह जुड़ा हुआ है। बुद्धि के अध्यवसाय, अहंकार के अभिमान के समान मन की वृत्ति का नाम संकल्प है। द्विविध इन्द्रियों की प्रवृत्ति में सहायक होने से इसे इन्द्रिय भी माना जाता है। गुणों के विविध परिणामों के आधार पर जैसे बाह्य पदार्थों के अनेक भेद हो जाते हैं, उसी तरह से इन्द्रियाँ भी विषयों के आधार पर विभक्त हो जाती हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक विषयों का ग्रहण करती हैं। इसी तरह से वचन, आदान (ग्रहण), विहरण, उत्सर्ग और आनन्द क्रमशः वाणी, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थेन्द्रियों के विषय हैं। बुद्धि, अहंकार और मन की अध्यवसाय, अभिमान और संकल्प नाम से इनका लक्षण बताने वाली वृत्तियाँ ही इनका असामान्य (विशेष) स्वरूप है। अन्तःकरण के नाम से प्रसिद्ध इन तीनों की सामान्य, सामूहिक वृत्ति के रूप में प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान नामक पाँच वायुओं का संचार होता है।

बुद्धि का वैशिष्ट्य

त्रिविध अन्तःकरण की दशविध बाह्य इन्द्रियों से यह विशेषता है कि इसकी प्रवृत्ति तीनों कालों में होती है, जब कि बाह्य इन्द्रियाँ केवल वर्तमान काल तक ही सीमित रहती हैं। बाह्य इन्द्रियों में भी बुद्धीन्द्रियाँ विशेष और अविशेष, स्थूल और सूक्ष्म, महाभूतगत तथा तन्मात्रागत शब्द आदि का समान रूप से ग्रहण करती हैं। कर्मेन्द्रियों में वाणी शब्द का और बाकी चार इन्द्रियाँ पंच भूतात्मक पिण्ड का ग्रहण करती हैं। पाणि (हाथ) घट का ग्रहण करता है और यह घट पंचभूतात्मक है। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विषयोपभोग में कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, मन और अहंकार की अपेक्षा बुद्धि की ही प्रधानता रहती है, क्योंकि दीपक के समान मिल-जुलकर काम करने वाली ये सब त्रिगुणात्मक वृत्तियाँ अन्ततः भोग और अपवर्ग रूपी प्रयोजन को प्रकाशित कर बुद्धि को समर्पित कर देती हैं। यह बुद्धि ही पुरुष के लिए समस्त भोग साधनों को प्रस्तुत करती है और यही प्रधान और पुरुष के सूक्ष्म अन्तर को भी स्पष्ट कर देती है। इस प्रकार भोग और मोक्ष (कैवल्य) की प्राप्ति में पुरुष के लिए बुद्धि की ही प्रधान भूमिका है।

तन्मात्रा और महाभूत

अहंकार से ११ इन्द्रियों और तन्मात्राओं की सृष्टि होती है, यह बताया गया है। अब पाँच तन्मात्राओं का और उनसे उद्भूत पाँच महाभूतों का स्वरूप ३८वीं कारिका में दिखाया गया है। यहाँ कहा गया है कि तन्मात्राओं में शब्द

आदि की सूक्ष्म रूप में स्थिति मानी गई है, इनकी विशेषताएँ यहाँ स्पष्ट नहीं होने पाती। इन्हीं पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूतों की सृष्टि होती है। तब इनमें विद्यमान गुणों की और अपनी-अपनी विशेषताएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं और इसीलिए सात्त्विक गुण की प्रधानता पर शान्त, सुख, प्रकाश और हलकेपन की, राजस की प्रधानता पर घोर, दुःख और अनवस्था की तथा तामस के आधार पर मूढ, उदास, गूढता जैसी विशेषताओं की अभिव्यक्ति हो उठती है।

स्थूल-सूक्ष्म शरीर

इनकी विशेषताओं को हम तीन रूपों में देखते हैं। पहली स्थिति सूक्ष्म शरीर की है। इसका स्वरूप अगली ४०वीं कारिका में दिखाया गया है। षाट्-कौशिक स्थूल शरीर माता-पिता की देन है। इस षाट्कौशिक शरीर में लोम, लोहित और मांस माता के तथा स्नायु, अस्थि और मज्जा पिता के अंश हैं। पाँच महाभूत इसका तृतीय स्वरूप है, घट पट आदि रूपों में विभक्त सारा जगत् इसी का विस्तार है। इनमें प्रत्येक पुरुष के लिए एक सूक्ष्म शरीर नियत है। माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर समाप्त हो जाते हैं। इनकी अन्तिम परिणति गाड़ने पर मिट्टी के रूप में, जलाने पर भस्म के रूप में और व्याघ्र आदि का भोजन बन जाने पर विष्ठा के रूप में होती है।

सूक्ष्म शरीर का स्वरूप इस प्रकार है—यह पूर्वोत्पन्न है, अर्थात् प्रधान ने सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक पुरुष के लिए इसकी सृष्टि कर दी है। यह असक्त है, अर्थात् कहीं भी जाने में समर्थ है, शिला में भी यह बिना बाधा के प्रविष्ट हो सकता है। यह प्रत्येक पुरुष के लिए नियत है। महान्, अहंकार, एकादश इन्द्रिय और पंच तन्मात्राओं के रूप में अठारह तत्त्वों से यह बना होता है। यह सूक्ष्म शरीर बाह्य विषयों के उपभोग में असमर्थ है, अतः बार-बार स्थूल शरीर का परिग्रह और परित्याग करता रहता है। यह धर्म, अधर्म आदि भावों से, बुद्धि के आठ धर्मों की वासनाओं से सुवासित रहता है और प्रलयावस्था में प्रधान में लीन हो जाता है।

भित्ति, पट आदि आश्रय (आधार) के बिना जैसे चित्र नहीं बन सकता, स्थाणु आदि के बिना जैसे छाया नहीं उभर सकती, उसी तरह से सूक्ष्म शरीर के बिना मृत्यु और जन्म के अन्तराल में लिंग, अर्थात् प्रधान आदि की भी कोई स्थिति नहीं रह सकती। अतः सूक्ष्म शरीर की सत्ता सिद्ध होती है। महाभारत के सावित्री-सत्यवान् उपाख्यान से भी इस सूक्ष्म शरीर को समर्थन मिलता है। यमराज सत्यवान् के सूक्ष्म शरीर को ही पाश में बाँध कर ले जाते हैं और सावित्री के आग्रह पर उसे पाशमुक्त कर देते हैं।

पुरुष के भोग रूपी प्रयोजन की सिद्धि के लिए यह लिंग (सूक्ष्म शरीर) धर्माधर्म आदि निमित्तों के आधार पर उन-उन नैमित्तिक षाट्कौशिक शरीरों का परिग्रह और त्याग उसी तरह से करता रहता है, जैसे नट (अभिनेता) राम-रावण आदि की विभिन्न भूमिकाओं का निर्वाह करता रहता है। लिंग में यह सामर्थ्य प्रकृति की विश्वरूपता के कारण आता है। इसी के साथ लिंग-सृष्टि की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। अगली ४३वीं कारिका से भाव-सृष्टि का वर्णन प्रारम्भ होता है।

भाव सृष्टि

पूर्व कारिका में निमित्त और नैमित्तिक की चर्चा आई है। प्रस्तुत कारिका में त्रिविध भावों की चर्चा के साथ इन्हीं को स्पष्ट किया जा रहा है। धर्म, अधर्म आदि आठ बुद्धि के धर्म **भाव** कहलाते हैं। ये तीन प्रकार के हैं—सांसिद्धिक, प्राकृतिक और वैकृत (नैमित्तिक)। स्वाभाविक धर्मों को **सांसिद्धिक** कहा जाता है, जैसे कपिल मुनि स्वाभाविक रूप से धर्म, ज्ञान आदि से सम्पन्न थे। नाना प्रकार के उपायों के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाले धर्म **वैकृत** (नैमित्तिक) तथा विभिन्न देहों के सम्पर्क से उद्भूत होने वाले धर्म **प्राकृतिक** कहलाते हैं। इन तीन भावों की चर्चा आगमों में भी मिलती है। वहाँ वैकृत को **वैनयिक** नाम दिया गया है। लोकव्यवहार, गुरुजन की सेवा और शास्त्रों के अभ्यास से मानसिक भावों में जो परिष्कार आता है, वह वैनयिक (वैकृत) कहलाता है। इसी को नैमित्तिक भी कहा जाता है, क्योंकि देवाराधन जैसे निमित्तों की भी इसमें भूमिका रहती है। प्राकृतिक भावों की अभिव्यक्ति देह के साथ सम्पर्क होने पर होती है। विभिन्न योनियों में विभिन्न देहों की स्थिति रहती है। जीव जिस योनि को प्राप्त करता है, उसी की प्रकृति के अनुसार उसके संस्कार उद्बुद्ध होते हैं, तदनुरूप ही उसकी इन्द्रियों (करणों) का निर्माण होता है। कार्य के रूप में उसके शरीर की भी निर्मिति गर्भ में और गर्भ से निकलने के बाद अपनी-अपनी पद्धति से होती है। इसका अभिप्राय यह है कि धर्माधर्म आदि निमित्तों से नाना प्रकार की योनियों में विविध प्रकार के नैमित्तिकों (शरीरों) की उपलब्धि होती है। निमित्त और नैमित्तिक में अभेद मानकर करणों और विभिन्न शरीरों के लिए भी यहाँ औपचारिक रूप से भावों की कल्पना कर ली जाती है और इनको प्राकृतिक (स्वाभाविक) भावों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

त्रिविध भावों के निरूपण के बाद किस निमित्त से किस नैमित्तिक की उपलब्धि होती है, इसको ४४-४५ संख्या की कारिकाओं में स्पष्ट किया गया है। यहाँ बताया गया है कि धर्म से ऊर्ध्व लोक की प्राप्ति होती है तथा अधर्म से

अधोलोक में जाना पड़ता है। ज्ञान से अपवर्ग की और अज्ञान से बन्धन की प्राप्ति होती है। वैराग्य की सहायता से पुरुष प्रकृति में लीन हो जाता है और रजोगण से उद्भूत राग से उसे संसार में आना पड़ता है। ऐश्वर्य की सहायता से व्यक्ति की सर्वत्र अप्रतिहत गति हो जाती है और अनैश्वर्य से उसकी कोई भी इच्छा फलीभूत नहीं होने पाती।

प्रत्यय सर्ग

४२वीं कारिका तक यहाँ लिंग सृष्टि का वर्णन हुआ है। ४३वीं कारिका से भाव सृष्टि की चर्चा हो रही है। ४६वीं कारिका में उसी को प्रत्यय (बुद्धि) सर्ग कहा गया है। प्रथमतः इसके विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि नामक चार भेद बताए गए हैं और गुणों की विषमता एवं परस्पर के अभिघात के कारण इनके पचास भेद हो जाते हैं। ''अन्योन्याभिभवाश्रयजन्ममिथुनवृत्तयश्च गुणाः'' १२वीं कारिका के इस अंश को यहाँ स्मरण रखना चाहिए।

इनमें से विपर्यय के पाँच भेद होते हैं। इन्द्रियों की विकलता के कारण अशक्ति के अट्ठाईस भेद गिनाये गये हैं। इसी तरह तुष्टि के नौ तथा सिद्धि के आठ भेद हैं। योगसूत्र में वर्णित अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँच क्लेश ही क्रमशः तम, मोह, महामोह, तामिस्त्र और अन्धतामिस्त्र नामक पाँच विपर्यय कहलाते हैं। इनमें तम के आठ भेद, मोह के भी आठ, महामोह के दस, तामिस्त्र के अठारह और अन्ध तामिस्त्र के भी इतने ही भेद हैं।

ग्यारह इन्द्रियों की बधिरता आदि त्रुटियों के कारण व्यक्ति में ग्यारह प्रकार की अशक्तियाँ (मन्दता) घर कर लेती है। इसी तरह से नव विध तुष्टि और अष्ट विध सिद्धि का भान न हो पाने से बुद्धि में १७ प्रकार की अशक्ति आ जाती है। ये ही मिलकर २८ हो जाती हैं।

तुष्टि के नौ भेद इस प्रकार हैं—प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामक चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं। पाँच बाह्य विषयों से अनासक्त हो जाने पर भी अन्य प्रकार की सन्तुष्टि मिलती है। इस तरह से तुष्टि नौ प्रकार की होती है।

ऊह, शब्द, अध्ययन, त्रिविध दुःखों का नाश, सुहृत्प्रप्ति और दान—ये आठ प्रकार की सिद्धियाँ बताई गई हैं। इस प्रकार यहाँ विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि के पचास प्रकारों का विवरण दिया गया है और बताया गया है कि ये आठ प्रकार की सिद्धियाँ कैवल्य की प्राप्ति में सहायक होती हैं, अतः ये उपादेय हैं और इनसे पहले के विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि नामक तीन भेद कैवल्य के प्रतिबन्धक हैं, अतः उनका परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार इन कुछ कारिकाओं में भाव (प्रत्यय) सृष्टि का वर्णन किया गया है।

द्विविध सर्ग का प्रयोजन

आगे ५२वीं कारिका में यह बताया गया है कि यहाँ लिंग और भाव नामक द्विविध सृष्टि का निरूपण इसलिए किया गया है कि बिना भाव सर्ग के लिंग सर्ग की और बिना लिंग सर्ग के भाव सर्ग की निष्पत्ति नहीं हो सकती। ये दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं, अत: यहाँ दोनों प्रकार के सर्ग का निरूपण किया गया है। बीजांकुर न्याय की तरह इस द्विविध सर्ग की भी प्रवृत्ति अनादिकाल से चली आ रही है।

प्रत्यय सर्ग के भेदों को ऊपर गिनाया गया है। आगे ५३वीं कारिका में चौदह प्रकार की भौतिक सृष्टि को गिनाया गया है। यहाँ बताया गया है कि ब्राह्म, प्राजपत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच नामक अष्टविध दैव सर्ग; पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप और स्थावर नामक पाँच प्रकार की तैर्यक् सृष्टि और एक प्रकार की मानुष सृष्टि—ये सब मिलकर भौतिक सर्ग के चौदह भेद होते हैं।

ऊर्ध्वलोक स्थित दैव सर्ग सत्त्वगुण प्रधान, तिर्यग्योनि के जीवों की सृष्टि तमोगुण प्रधान और मानुष सृष्टि रजोगुण प्रधान मानी गई है। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त समस्त भौतिक सर्ग का इस त्रिगुणामात्मक सृष्टि में समावेश हो जाता है।

बन्ध-मोक्ष-व्यवस्था

इस तरह से सांख्य दर्शन की सृष्टि (सर्ग) प्रक्रिया का निरूपण करने के बाद ईश्वरकृष्ण बहुत ही संक्षेप में बन्ध और मोक्ष की प्रक्रिया को बतलाते हैं कि इस चतुर्दश भुवनात्मक संसार में यह चेतन पुरुष जरा(बुढापा) और मृत्यु से प्रयुक्त दु:खों को भोगता रहता है, क्योंकि प्राकृतिक प्रपंच में वह मुक्त नहीं हो पाता। जब तक पुरुष लिंगात्मक और भावात्मक धर्मों से अपने को अलग नहीं कर लेता, तब तक विवेकज्ञान के अभाव में वह स्वाभाविक रूप से दु:खों से घिरा रहता है।

प्रकृति की द्विविध प्रवृत्ति

वास्तव में पुरुष से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो महान् (बुद्धि) से लेकर पंच महाभूत पर्यन्त सारा प्रपंच प्रकृति की देन है। यह प्रकृति ही उसे भोग के लिए प्रवृत्त करती है और वही पुरुष के कल्याण के लिए भी नि:स्वार्थ भाव से लग जाती है। दूध अचेतन है, तो भी बछड़े के पालन-पोषण के लिए वह गाय के थनों से बहने लगता है, उसी तरह अचेतन प्रधान (प्रकृति) की भी प्रवृत्ति पुरुष को भोगों से विमुख कर वह स्वरूप को पहिचाने, इसके लिए होती है। अपनी उत्सुकता की निवृत्ति के लिए प्राणी नाना प्रकार के क्रिया कलाप में

लग जाता है, उसी तरह अव्यक्त (प्रकृति) भी पुरुष को सांसारिक बन्धनों से मुक्ति दिलाने में लग जाती है। दर्शकों को अपना नृत्य दिखाने के उपरान्त नर्तकी जैसे रंगमंच से हट जाती है, उसी तरह से यह प्रकृति भी अपने भोगात्मक स्वरूप को पुरुष के सामने प्रकट कर अन्ततः आँख से ओझल हो जाती है। इस तरह से यह गुणवती प्रकृति सभी गुणों से शून्य और बदले में कुछ भी न देने वाले इस अनुपकारी पुरुष के भोग और अपवर्ग रूपी प्रयोजन को बिना किसी स्वार्थ के पूरा करती है। यह प्रकृति इतनी सुकुमार (लज्जाशील) है कि इस विषय में इसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। जब यह समझ जाती है कि इस पुरुष ने मुझे देख लिया है, तो फिर वह उसके सामने कभी नहीं जाती।

इस तरह से देखा जाय, तो वास्तव में कोई भी पुरुष न तो बन्धन में पड़ता है, न आवागमन के चक्कर में पड़ता है और न मुक्त ही होता है। संसरण, बन्धन और मुक्ति का सारा नाटक यह प्रकृति ही नाना रूप धारण कर करती रहती है। बुद्धिगत धर्म, अधर्म आदि सात स्वरूपों के सहारे यह प्रकृति आत्मा को बन्धन में डाल देती है और वही पुरुष के कैवल्य रूपी प्रयोजन की सिद्धि के लिए केवल एक ज्ञान के सहारे सभी प्रकार के आवागमन के बन्धनों से उसे मुक्त भी कर देती है।

तत्त्वज्ञान से मुक्ति

निरन्तर आदरपूर्वक दीर्घकाल तक किये गये मिथ्याज्ञान से अस्पृष्ट होने से विशुद्ध तत्त्वज्ञान के अभ्यास से ज्ञान की उत्पत्ति होती है कि मैं अभी क्रियाओं से शून्य, निष्क्रिय हूँ। इसीलिये मैं कर्तृत्व से भी शून्य हूँ और इस संसार में मेरा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार प्रकृति के धर्मों से जब पुरुष अलग हो जाता है, तो यह प्रकृति और पुरुष का विवेक ही तत्त्वज्ञान कहलाता है। इस तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के बाद फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं जाता, पुरुष अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

ऐसी स्थिति में मैंने प्रकृति के स्वभाव को समझ लिया है, ऐसा सोचकर वह पुरुष उसकी उपेक्षा कर देता है। इसी तरह से प्रकृति भी मुझे इसने पहचान लिया है, ऐसा समझकर अपना व्यापार बन्द कर देती है। तब बाद में प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर भी, बन्ध और मोक्ष रूपी प्रयोजकों के अभाव में पुनः सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

ऐकान्तिक-आत्यन्तिक कैवल्य

विशुद्ध, सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति के बाद धर्म-अधर्म आदि की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। अभिप्राय यह है कि भूना हुआ चना जैसे अंकुरित

नहीं होता, उसी तरह धर्म-अधर्म आदि भी फलदान में असमर्थ हो जाते हैं। आगमशास्त्र में इस स्थिति को कर्मसाम्य नाम दिया गया है। ऐसी अवस्था में अपने प्रारब्ध कर्मों के संस्कारों के कारण व्यक्ति उसी तरह शरीर धारण किये रहता है, जैसे कुम्हार की चाक (चक्र) उसको चलाने वाले दंडे के हटा लेने पर भी चलती रहती है। संस्कारों के समाप्त हो जाने पर जब जीवात्मा का शरीर से साथ छूट जाता है और भोग एवं मोक्ष नामक प्रयोजनों को पूरा कर प्रधान (प्रकृति) भी निवृत्त हो जाता है, तो पुरुष ऐकान्तिक और आत्यान्तिक उभयविध कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।

प्रथम कारिका में दु:ख के प्रसंग में ये दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वहाँ बताया गया है कि दृष्ट और आनुश्रविक उपायों से दु:ख की निवृत्ति हो ही जाय, यह जरूरी नहीं है। उसके विपरीत यहाँ बताया गया है कि यहाँ प्रदर्शित तत्त्वज्ञान की सहायता से अवश्य ही कैवल्य की प्राप्ति होती है। दृष्ट और आनुश्रविक उपायों से एक बार दु:ख की निवृत्ति हो जाने पर भी पुन: वे नहीं आवेंगे, इसकी कोई गारण्टी नहीं है, किन्तु यहाँ बताया जा रहा है कि सांख्यदर्शन की पद्धति से एक बार कैवल्य की प्राप्ति हो जाने पर पुन: उसकी निवृत्ति का कोई प्रसंग नहीं है। अभिप्राय यह है कि तत्त्वज्ञान से अवश्य ही अविनश्वर कैवल्य की प्राप्ति होती है, त्रिविध दु:खों का ऐकान्तिक और आत्यन्तिक नाश हो जाता है।

उपसंहार

परमर्षि कपिल मुनि ने अत्यन्त गुह्य इस पुरुषार्थ ज्ञान को, पुरुष को भोग और कैवल्य की प्राप्ति किस तरह से होती है, इसकी पद्धति को अच्छी तरह से समझाया है। यहाँ प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की प्रक्रिया पर भी विचार किया गया है। इसी के साथ सांख्य दर्शन की यह प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है।



योग दर्शन

योगशास्त्र के प्रवक्ता (हिरण्यगर्भ)

पातञ्जल योग सूत्र में चित्तवृत्ति के निरोध के रूप में और पुराण आदि में आत्मा और परमात्मा के मिलन के एक साधन के रूप में **योग** शब्द परिभाषित है। आचार्य नरेन्द्र देव ने संस्कृति को भी योग के समान चित्त भूमि की खेती बताया है। उनका यह लक्षण पातञ्जल योग सूत्र (१.२) पर आधृत है। गीता के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ के श्लोकों में योगाचार्यों की जो परम्परा दी गई है, वही नारायणीयोपाख्यान में पाञ्चरात्र शास्त्र के प्रवक्ताओं की भी है। यहाँ सांख्यशास्त्र के प्रथम प्रवक्ता कपिल मुनि और योगशास्त्र के प्रथम प्रवक्ता हिरण्यगर्भ माने गये हैं। कृतान्तपंचक की जहाँ कहीं भी चर्चा मिलती है, वहाँ सांख्य का प्रथम और द्वितीय स्थान योग का है। पूरे भारतीय दर्शन शास्त्र और पाञ्चरात्र, पाशुपत आदि मतों पर ज्ञान की इन दो (सांख्य और योग) शाखाओं का सर्वत्र अक्षुण्ण प्रभाव है।

ब्रह्मसूत्र के तर्कवाद में सांख्य के समान योग को भी अप्रमाण माना गया है, किन्तु अन्ततः वेद के समान ही अन्य मतों का भी प्रामाण्य स्थापित हो गया और कृतान्तपंचक के नाम से ये सब प्रसिद्ध हुए। धर्मशास्त्र के निबन्ध-ग्रन्थ वीरमित्रोदय में इनकी प्रामाणिकता पर प्रश्न उठाकर कहा गया है कि धार्मिक विवादों के निर्णय में ये सब प्रमाण हैं।

नारायणीयोपाख्यान के समान अघोर शिवाचार्य ने भी अपनी मृगेन्द्रागम-वृत्तिदीपिका (विद्या०, पृ० ७४) में उद्धृत एक वाक्य में हिरण्यगर्भ को ही योगशास्त्र का प्रथम प्रवक्ता बताया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी संभवतः इनके योगशास्त्र की चर्चा है, किन्तु आज उनका योगशास्त्र उपलब्ध नहीं है। महर्षि पतञ्जलि का योगसूत्र और उस पर रचित व्यासभाष्य ही आज कल इस शास्त्र के प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं। अभिनवगुप्त ने गुरु से शिष्य तक होने वाली ज्ञान की संक्रान्ति के विषय में जिस वाक्य को उद्धृत किया है, वह व्यासभाष्य (१.७) में आनुपूर्वी से उपलब्ध है। पातञ्जल महाभाष्य में भी इसके मिलने की सम्भावना है। परस्पर समन्वय स्थापित करने में और वैदिक कर्मकाण्ड में संशोधन प्रस्तुत करने में योगशास्त्र की भूमिका सांख्यशास्त्र के समान ही है। इसीलिए भगवद्गीता में सांख्य और योग के भेद को ही मिटा दिया है।

ज्ञानकर्मसमुच्चय

ऐसा लगता है कि भगवद्गीता में सांख्य को ज्ञान से और योग को क्रिया (कर्म) से जोड़ कर इनकी परस्पर की अभिन्नता, अर्थात् ज्ञानकर्म-समुच्चय पक्ष की स्थापना की है। वीरशैव जैसे द्वैताद्वैतवादी दर्शनों में भी कृतान्तपंचक का प्रामाण्य तो स्वीकृत है ही, पक्षी के दृष्टान्त से यहाँ ज्ञानकर्म-समुच्चय पक्ष को भी मान्यता दी गई है। इन आचार्यों का कहना है कि जैसे पक्षी एक पंख से उड़ नहीं सकता, उड़ने के लिए उसे दोनों पंखों की एक साथ आवश्यकता पड़ती है, उसी तरह से ज्ञान और कर्म का भी समसमुच्चय अपेक्षित है। यही कारण है कि गीता में सांख्य और योग को अभिन्न शास्त्र के रूप में मान्यता दी गई है।

भारतीय योगशास्त्र

सभी भारतीय धर्मों और दर्शनों से योगशास्त्र का अटूट सम्बन्ध है। अपने-अपने मुख्य ध्येय तक पहुँचने के लिए इनमें सर्वत्र अपनी-अपनी योगविधि निर्धारित की गयी है। उदाहरण के रूप में हम जैन और बौद्ध योगशास्त्र को प्रस्तुत कर सकते हैं। कौल योगविधि का पिण्ड-पद-रूप-रूपातीत (कुण्डलिनी योग) वाला पक्ष जैन योग की चतुर्विध ध्यान की पद्धति से और रहस्य पक्ष बौद्ध सेकयोग से समरस है। सिद्धान्त शैवमत के कामिक आदि २८ आगमों में तो सर्वत्र अपना-अपना स्वतन्त्र ही योगपाद समाविष्ट है। तन्त्रागमशास्त्र की अन्य शाखाओं में भी अष्टांग योग या षडंग योग की अपनी-अपनी दृष्टि से व्याख्या की गई है। नेत्रतन्त्र में स्थूल, सूक्ष्म और पर नामक त्रिविध ध्यान की विधियाँ वर्णित हैं। कुण्डलिनी योग से, नाथ योग से और पातञ्जल योग से क्रमशः इसकी तुलना की जा सकती है। अष्टांग योग की पद्धति भी यहाँ भिन्न प्रकार से व्याख्यात है, क्योंकि क्रमदर्शन ने पातञ्जल अष्टांग योग की प्रक्रिया को परतत्त्व के दर्शन में असमर्थ बताया है।

हठयोग के बीज यद्यपि पाशुपत योग और कौल सम्प्रदाय की कृतक शाखा में भी मिलते हैं, जिनमें वज्रयान का भी समावेश किया जा सकता है, तथापि इसको व्यवस्थित रूप देने वाले सम्भवतः गोरक्षनाथ थे। इस बात को पूरी तरह से नहीं स्वीकार किया जा सकता कि नाथ-सम्प्रदाय मैथुनवर्जी था, क्योंकि वज्रौली जैसी क्रियाओं का वर्णन हठयोग के ग्रन्थों में मिलता है। कौल-सम्प्रदाय की अकृतक शाखा से सहज योग का विकास माना जा सकता है। तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र की कुछ रहस्यात्मक प्रक्रियाओं के खतरों से सावधान करने के लिए ही हमने विज्ञान भैरव की प्रस्तावना (पृ० ३२-३६) में प्रबुद्ध जनता को सावधान किया था।

योगी अरविन्द के पूर्णयोग का और श्रद्धेय पं० श्रीगोपीनाथ कविराज जी के अखण्ड महायोग का परिचय इनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए हमने एक विश्व : एक संस्कृति (पृ० १६५-१७१) में दिया है। भारतीय योगशास्त्र का भी तन्त्रागम शास्त्र के समान ही अति विशाल साहित्य उपलब्ध है। "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" की पद्धति से एक विशाल ग्रन्थ की रचना से ही इसका पूरा परिचय मिल सकता है। लोनावाला (महाराष्ट्र) के योग संस्थान में इस पर कार्य हो रहा था। उसमें कितनी प्राप्ति हुई, हम कह नहीं सकते। यहाँ हम केवल पातञ्जल योग का परिचय देने जा रहे हैं।

पातञ्जल योगसूत्र

पातञ्जल योगसूत्र और उस पर रचित व्यासभाष्य की चर्चा ऊपर आ चुकी है। "अथ योगानुशासनम्" की पद्धति पर "अथ शब्दानुशासनम्" को देखकर विद्वानों का मन्तव्य है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकार पतञ्जलि अभिन्न व्यक्ति हैं।

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

यह प्रसिद्ध श्लोक भी इस मन्तव्य का समर्थक है। भोजवृत्ति के पाँचवें मंगल पद्य में भी राजा भोज की महर्षि पतञ्जलि से तुलना की गई है। यहाँ बताया गया है कि राजा भोज ने भी पतञ्जलि के समान चित्त की शुद्धि के लिए योगशास्त्र पर, चरक संहिता पर शरीर की शुद्धि के लिए और वाणी की शुद्धि के लिए व्याकरण शास्त्र पर ग्रन्थ लिखे हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि का समय निश्चित है। तदनुसार हम कह सकते हैं कि योगसूत्रों की भी रचना ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में हुई।

सम्बद्ध साहित्य

पातञ्जल योगसूत्र पर व्यासभाष्य नाम की कृति अत्यन्त प्रसिद्ध है। आचार्य शंकर के नाम से भी कोई कृति प्रकाशित हुई है। इनके कर्ताओं के विषय में निश्चय रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। व्यासभाष्य की महत्ता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि इस पर षड्दर्शन व्याख्याता वाचस्पति मिश्र ने तत्त्व-वैशारदी व्याख्या और विज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक की रचना की है। राघवानन्द सरस्वती ने तत्त्ववैशारदी पर पातञ्जलरहस्य नाम की टीका लिखी है। योगवार्त्तिक में विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पति मिश्र की समालोचना की है। इन दोनों ग्रन्थों की समीक्षा अपेक्षित है। योगसारसंग्रह विज्ञानभिक्षु का सांख्यसार संग्रह की पद्धति से लिखा गया ग्रन्थ है।

योग सूत्रों पर भी अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। उनमें भोजदेव-कृत राजमार्तण्ड (भोजवृत्ति) टीका अति प्रसिद्ध है। इसका प्रकाशन पूना की

आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, क्रमांक ४७ में योगसूत्र व्यासभाष्य और तत्त्ववैशारदी टीका के साथ हो चुका है। पातञ्जल शास्त्र की जानकारी के लिए इतना ही साहित्य पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त भावागणेश की वृत्ति, रामानन्द यति की मणिप्रभा, अनन्त पण्डित की योगचन्द्रिका, सदाशिवेन्द्र सरस्वती का योग सुधाकर तथा नागेश भट्ट की लघ्वी और बृहती नामक टीकाओं का भी प्रकाशन हो चुका है। अभी हाल में प्रसिद्ध सांख्ययोगाचार्य श्री हरिहरानन्द आरण्य ने योगभाष्य पर भास्वती नामक टीका लिखी है। इसकी श्रद्धेय श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अब स्वर्गीय डॉ० रामशंकरभट्टाचार्य ने हिन्दी अनुवाद के साथ इसका सुन्दर संस्करण प्रकाशित कराया है।

यहाँ हम भोजवृत्ति की सहायता से पातञ्जल सूत्रों के प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

चित्त की पाँच स्थितियाँ

पातञ्जल महाभाष्य की पद्धति (अथ शब्दानुशासनम्) से योगसूत्र का प्रारम्भ ''अथ योगानुशासनम्'' से हुआ है। 'युज् समाधौ' धातु से योग शब्द निष्पन्न हुआ है। ''योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:'' इस द्वितीय सूत्र में योग का लक्षण दिया गया है। सांख्यकारिका में चित्त शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। यहाँ मन, अहंकार और बुद्धि नामक त्रिविध अन्त:करण के लिए चित्त शब्द आया है। इस चित्त की क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध नामक पाँच वृत्तियाँ मानी गई हैं। रजोगुण के बढ़ जाने से बहिर्मुख चित्तवृत्ति **क्षिप्त** कहलाती है। तमोगुण के बढ़ जाने पर कृत्याकृत्य के विवेक से शून्य चित्तवृत्ति की संज्ञा **मूढ** है। सत्त्वगुण के बढ़ने पर सुख के साधनों की तरह आकृष्ट होने वाली चित्तवृत्ति **विक्षिप्त** कहलाती है। अभिप्राय यह है कि रजोगुण से प्रवृत्ति-स्वरूप, तमोगुण से मोह से भरी हुई और सत्त्वगुण से सुखमय चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। प्रख्या (सत्त्व), प्रवृत्ति (रज) और नियमन (तम) इनके कार्य हैं। चित्त की ये तीनों वृत्तियाँ योग (समाधि) में सहायक नहीं हो सकतीं।

आगे की एकाग्रता और निरोध नामक दो वृत्तियों में सत्त्वगुण का उत्कर्ष बढ़ता जाता है, अत: ये योगाभ्यास में लगे व्यक्तियों को समाधि की ओर आगे बढ़ाती हैं। यहाँ **एकाग्रता** नाम की वृत्ति व्यक्ति को समाधि की तरफ ले जाती है, तब **निरोध** वृत्ति के सहारे चित्त की सारी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। सारी चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग, अर्थात् समाधि कहलाती है। इस स्थिति में चित्त की समस्त वृत्तियों का और उनके संस्कारों का प्रविलय हो जाता है।

स्वरूप में प्रतिष्ठा

तृतीय और चतुर्थ सूत्र में बताया गया है कि इस समाधि की स्थिति में द्रष्टा पुरुष अपने चित्तमात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि विवेक ख्याति के उत्पन्न हो जाने से पुरुष में कर्तृत्व के अभिमान की निवृत्ति हो जाती है। समाधि की स्थिति में वह प्रकृति की परिणमनशीलता से मुक्त हो जाता है। इसके विपरीत व्युत्थानावस्था में वह चित्त आगे बताई जा रही पाँच प्रकार की वृत्तियों का सा बन जाता है। इन दोनों सूत्रों का अभिप्राय यह है कि चित्त में सुख-दुःख-मोहात्मक जो जो वृत्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं, व्यवहार में वे सब पुरुष में उपचरित हो जाती हैं। चित्तवृत्तियों में एकाग्रता के स्थापित होने पर पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है और इन्द्रियों की वृत्तियों के माध्यम में विषयाकार में परिणत होने पर वह जागतिक जीव बन जाता है। चित्त की यह स्थिति उसी तरह की है, जैसे जल की लहरियों में चन्द्रमा चलता हुआ सा लगता है।

चित्त की पाँच वृत्तियाँ

चित्त की ये वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। क्लिष्ट और अक्लिष्ट के भेद से ये दो प्रकार की हैं, अर्थात् ये कभी क्लेश से आक्रान्त रहती हैं और कभी उनसे मुक्त। अविद्या आदि पाँच प्रकार के क्लेशों का वर्णन आगे (२.३-९) किया गया है। इन वृत्तियों के नाम हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। सांख्य दर्शन के समान यहाँ भी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम नामक तीन प्रमाण मान्य हैं। अतिसंवादी, अर्थात् सम्यग् ज्ञान को **प्रमाण** कहा जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम का लक्षण सांख्य प्रकरण में बताया जा चुका है (पृ० १५-१६)।

विपर्यय मिथ्याज्ञान को कहते हैं। वस्तु के सही स्वरूप की इससे जानकारी नहीं मिल पाती, उसके स्थान पर कोई दूसरी ही वस्तु दिखाई देने लगती है,जैसे शुक्तिका में रजत की प्रतीति। यह स्थाणु है या पुरुष? इस तरह के संशय का भी समावेश विपर्यय में ही होगा। चित्त की तीसरी वृत्ति **विकल्प** है। किसी वस्तु के न रहने पर भी शब्द के उच्चारण के साथ ही उसका एक कल्पित आकार खड़ा हो जाता है। यह विकल्प का ही खेल है। गरीबी हटाओं, जैसे नारों के रूप में आजकल इसके खेल को सब जगह देखा जा सकता है। इस विषय में एक श्लोक प्रसिद्ध है—

एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः।
मृगतृष्णाम्भसि स्नात्वा शशशृङ्गधनुर्धरः॥

वन्ध्यापुत्र, आकाश कुसुम, मृगतृष्णाजल और खरगोश के सींग की दुनियाँ में कोई स्थिति नहीं है, तो भी शब्दों को सुनने के साथ ही हमारे सामने एक खाका खिंच जाता है।

चित्त की चौथी वृत्ति **निद्रा** है। इस वृत्ति से आक्रान्त मनुष्य को कुछ भी प्रतीति नहीं होती। स्मृति का अलग से उल्लेख होने से यहाँ निद्रा से सुषुप्ति दशा का ग्रहण होगा, स्वप्न दशा का नहीं। गाढ़ निद्रा से जगने पर 'आज मैं आराम से सोया' इस तरह की प्रतीति होने से निद्रा भी एक वृत्ति है। यह स्मृति से भिन्न है। **स्मृति** का लक्षण है अनुभूत विषय से उत्पन्न संस्कार-विशेष। यह संस्कार बुद्धि में छिपा रहता है और निमित्त को पाकर उद्‌बुद्ध हो जाता है। यही है स्मृति। इसमें प्रमाण, विपर्यय और विकल्प की स्थिति जाग्रदवस्था में रहती है, कभी-कभी स्वप्न में भी इनकी प्रतीति होने लगती है। निद्रा में किसी भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती और स्मृति को जगाने में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा की भी समान भूमिका है।

अभ्यास और वैराग्य

इस प्रकार चित्त की वृत्तियों का यहाँ उल्लेख किया गया है। इनका निरोध कैसे होगा? यही अब आगे बतलाया जा रहा है कि अभ्यास और वैराग्य की सहायता से प्रकाश, प्रवृत्ति और नियमन रूप इन वृत्तियों का निरोध किया जा सकता है। **निरोध** का अभिप्राय है बाह्य विषयों के आकर्षण को छोड़कर अपने-अपने कारण में अन्तर्मुख प्रवृत्ति के होने पर अन्ततः चित्त का शक्ति रूप में स्थित रहना। साधक विषयों में जब दोषों को देखता है, तब उसके मन में उनके प्रति वितृष्णा जाग उठती है। इसे ही वैराग्य कहते हैं। अभ्यास की सहायता से उसकी यह वितृष्णा दृढ़ होती है। इसी विषय को आगे के सूत्रों में बताया गया है।

वृत्तियों से रहित चित्त का स्वरूपनिष्ठ परिणाम ही स्थिति कहलाती है। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए उत्साह के साथ किया गया प्रयत्न ही **अभ्यास** कहलाता है। लम्बे समय तक निरन्तर पूरे आदर के साथ अभ्यास करते रहने से यह सफल होता है। इसी तरह से दृष्ट विषय शब्द आदि और आनुश्रविक विषय स्वर्ग आदि, इन दोनों प्रकार के विषयों के प्रति वितृष्णा, अर्थात् सभी प्रकार की लालसाओं से शून्य व्यक्ति में वशीकार नामक एक भाव जगता है कि वे सब मेरे वश में हैं, मैं इनके वश में नहीं हूँ। इस तरह की विचारशक्ति ही **वैराग्य** के नाम से जानी जाती है। इस वशीकार संज्ञक वैराग्य से भिन्न दूसरा उत्कृष्ट वैराग्य वह है, जो प्रकृति-पुरुष में विवेक-ख्याति के जाग उठने पर व्यक्ताव्यक्तात्मक समस्त गुणधर्मों के प्रति उत्पन्न हो जाता है। इसका उदय हो जाने पर योगी को यह समझ में आ जाता है कि जो कुछ मुझे प्राप्त करना है, उसे मैंने प्राप्त कर लिया

है, मेरे समस्त क्लेश क्षीण हो गये हैं। मेरा भवचक्र (जन्म-मरण का प्रवाह) छिन्न-भिन्न हो गया है, जिसके बिना प्राणी जन्म लेकर मरता है और मर कर पुनः जन्म लेता है। इस तरह के ज्ञान की पराकाष्ठा ही श्रेष्ठ वैराग्य है। इसी के साथ कैवल्य का भी उदय हो जाता है।

द्विविध समाधि

इस द्विविध वैराग्य की सहायता से चित्त की वृत्तियों का निरोध होने पर प्रथमतः संप्रज्ञात और उसके बाद असंप्रज्ञात समाधि की स्थिति तक योगी पहुँच जाता है। १७-१८ सूत्रों में यह समझाया गया है कि ये स्थितियाँ कैसे प्राप्त होती हैं। पहले संप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति की प्रक्रिया को समझाते हुए बताया गया है कि वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक चार रूपों का अनुगम करने से संप्रज्ञात समाधि में चित्त स्थिर हो जाता है। समाधि एक प्रकार की भावना है। भावना का अभिप्राय है, जिस विषय की हम भावना करते हैं, उसके सिवाय अन्य समस्त विषयों को हटा कर उसी एक विषय में चित्त की वृत्तियों को केन्द्रित कर देना। भाव्य विषय ईश्वर और तत्त्वों के रूप में द्विविध हैं। जड़ और अजड़ के रूप में तत्त्व भी द्विविध हैं। इनमें प्रकृति आदि २४ तत्त्व जड़ हैं और २५वाँ तत्त्व पुरुष अजड़ (चेतन) है। इनमें से स्थूल पाँच महाभूतों और इन्द्रियों के स्थूल विषयों पर शब्द और अर्थ का अनुसन्धान करते हुए जो भावना की जाती है, उसे **सवितर्क** समाधि कहते हैं। इसी आलम्बन में पूर्वापर रूप क्रम की और शब्द की सत्ता विलीन हो जाती है, तो वह **निर्वितर्क** समाधि कहलाती है। पाँच तन्मात्रा और अन्तःकरणत्रय नामक सूक्ष्म विषयों को आलम्बन बना कर उनमें देश, काल और धर्म की जब भावना की जाती है, तो वह **सविचार** समाधि कहलाती है और बिना देश, काल और धर्म का अनुवर्तन किये जो भावना की जाती है, उसे **निर्विचार** समाधि कहते हैं। ये चार प्रकार की समाधियाँ ग्राह्यसमापत्ति कहलाती हैं।

जब रज और तम के लेश से अनुविद्ध सत्त्वप्रधान अन्तःकरण की भावना की जाती है, तब चितिशक्ति ओझल रहती है और सुख प्रकाशमय सत्त्वगण के उद्रेक के कारण जो समाधि लगती है, वह **सानन्द** कहलाती है। इसी समाधि में निरत योगी जब प्रधान अथवा पुरुष रूप किसी भी अन्य तत्त्व को नहीं देखता, तब उसका देहाहंकार समाप्त हो जाता है। यह स्थिति **विदेह समाधि** कहलाती है। इसको ग्रहणसमापत्ति कहते हैं। इसके आगे रज और तम के लेशमात्र से भी अननुविद्ध शुद्ध सत्त्व को आलम्बन बनाकर जो भावना की जाती है, उसमें ग्राह्य सत्त्व के गौण हो जाने से चितिशक्ति का उद्रेक होता है। तब केवल सत्ता बची रह जाती है। इस समाधि को **सास्मिता** कहते हैं।

अहंकार और अस्मिता एक ही तत्त्व नहीं हैं, क्योंकि **अहंकार** में 'अहम्' की पृष्ठभूमि में पुरुष विषयों को जानता है और **अस्मिता** की स्थिति में व्यक्ति अन्तर्मुख होकर विपरीत परिणाम के क्रम से चित्त के प्रकृति में लीन हो जाने पर सत्तामात्र की प्रतीति कर पाता है। इसी समाधि से सन्तुष्ट होकर जो योगी पुरुष या परमात्मा के दर्शन के लिए आगे नहीं बढ़ते उनका चित्त प्रकृति में ही लीन हो जाता है, इसलिए ये **प्रकृतिलय** कहलाते हैं। इससे आगे जो योगी परम पुरुष को जानकर भावना में लीन होता है, उनकी यह विवेकख्याति ग्रहीतृसमापत्ति कहलाती है। इस प्रकार संप्रज्ञात समाधि में प्रथमतः चारों स्थितियाँ शक्ति के रूप में छिपी रहती हैं और तब उत्तर-उत्तर स्थिति में एक एक का त्याग हो जाता है, इस तरह से मूलतः संप्रज्ञात समाधि के चार ही भेद हैं, आठ नहीं।

संप्रज्ञात समाधि के निरूपण के बाद असंप्रज्ञात समाधि का स्वरूप बतलाया गया है। वितर्क, विचार आदि चारों स्थितियों के विलय की भावना का चित्त में बार-बार निवेश करने से जो भी वृत्ति स्फुरित हो रही हो, उसका निरन्तर निरसन करते रहने से संप्रज्ञात समाधि के भी सारे संस्कार विलीन हो जाते हैं। यही स्थिति असंप्रज्ञात समाधि कहलाती है। इस समाधि में किसी भी वेद्य वस्तु का भान नहीं होता, अतः इसको निर्बीज समाधि भी कहते हैं। यहाँ चित्त का चार प्रकार का परिणाम होता है—१. व्युत्थान, २. समाधि का प्रारम्भ, ३. एकाग्रता और ४. निरोध; क्षिप्त और मूढ नाम की दो चित्तभूमियाँ **व्युत्थान,** सत्त्व का उद्रेक होने से विक्षिप्त भूमि **समाधिप्रारम्भ,** एकाग्रता और निरोध अन्तिम दो समाधियाँ। प्रत्येक परिणाम के अपने-अपने संस्कार होते हैं। इनमें व्युत्थान दशा के संस्कार समाधि प्रारम्भ से उत्पन्न संस्कारों से बाधित हो जाते हैं, ये संस्कार एकाग्रता जनित संस्कारों से और ये भी निरोधज संस्कारों से प्रतिहत हो जाते हैं। जैसे सोने में मिलाया हुआ सीसा (नौसादर) सुवर्ण के मल के साथ अपने भी जल जाता है, उसी तरह से निरोधज संस्कार एकाग्रता दशा के संस्कारों के साथ स्वयं भी समाप्त हो जाते हैं।

समाधि के उपाय

इस तरह से अब तक योग के स्वरूप, उसके भेद और प्राप्ति के उपायों की संक्षेप में चर्चा करने के उपरान्त उपायों को विस्तार से बताया गया है कि पूर्व चर्चित विदेह और प्रकृतिलय स्थिति में पहुँचे योगियों की समाधि **भवप्रत्यय** कहलाती है। इन दोनों स्थितियों में पहुँचे योगियों की यह स्थिति परतत्त्व का दर्शन न करा पाने के कारण वास्तव में समाधि नहीं है। यह तो संसार का ही प्रत्यय कराती है। अतः योगी को चाहिए कि वह इससे ऊपर उठे। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा की सहायता से वह वास्तविक समाधि प्राप्त होती है। श्रद्धा से

वीर्य (उत्साह) की प्राप्ति होती है, उत्साह से सम्पन्न योगी में स्मृति जाग उठती है, पूर्व भूमियों का स्मरण होने से उसका चित्त समाहित हो जाता है और इस स्थिति में पहुँचा योगी अपनी प्रज्ञा की सहायता से संप्रज्ञात समाधि में स्थिर हो जाता है। तीव्र संस्कार से सम्पन्न योगी को यह समाधि शीघ्र लग जाती है। मृदु, मध्य और अधिमात्र उपायों और संवेगों के आधार पर इनमें मन्दता और तीव्रता आती है। अर्थात् मृदु उपाय और मृदु संवेग में सर्वाधिक मन्दता और अधिमात्र उपाय एवं अधिमात्र संवेग से सम्पन्न योगी में समाधि आसन्नतर हो जाती है।

समाधि की प्राप्ति का सरलतम उपाय यहाँ २३वें सूत्र में ईश्वर की उपासना के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ईश्वर की विशिष्ट भक्ति से भी व्यक्ति को समाधि की स्थिति प्राप्त होती है। सांख्यकारिका के सांख्य से योगशास्त्र की यह विशेषता है कि ईश्वर के रूप में यहाँ २६वाँ तत्त्व स्वीकार किया गया है। अगले सूत्र में ईश्वर का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि यह ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक और आशय नामक दोषों से असंस्पृष्ट एक विशेष प्रकार का पुरुष, परम पुरुष है। अविद्या आदि पंचविध क्लेशों का, विहित आदि त्रिविध कर्मों का जाति आदि विपाकों का और आशयों (संस्कारों) का स्वरूप आगे बताया जायगा। जिस पुरुष में क्लेश आदि की स्थिति का पूरी तरह से अभाव है, वही ईश्वर है और यह निरतिशय सर्वज्ञता से सम्पन्न होता है। इसी के प्रसाद से अन्य व्यक्ति भी सर्वज्ञता को प्राप्त कर सकता है। यह ईश्वर सृष्टि के प्रारम्भ में विद्यमान ब्रह्मा आदि का भी गुरु (उपदेष्टा) है, क्योंकि ब्रह्मा आदि तो काल से जुड़े हुए हैं और यह ईश्वर अनादि है, काल इसको परिच्छिन्न नहीं कर सकता। प्रणव अर्थात् ॐकार इसी का वाचक है। इस प्रणव का जप करने से और उसके अर्थ की भावना करने से योगी की सरलता से समाधि में स्थिति हो जाती है। इससे वह बाह्य विषयों से विमुख अन्तःकरण प्रत्यक् चेतना, अर्थात् दृक् शक्ति की प्राप्ति की तरफ उन्मुख हो उठता है। साथ ही योग के अन्तरायों का भी नाश हो जाता है।

अन्तराय

समाधि के सरल उपाय के रूप में ईश्वर-प्राणिधान की चर्चा आरम्भ हुई थी। अन्त में योग के अन्तरायों की सूचना दी गई है। अब उन अन्तरायों का परिगणन कर उनको दूर करने के अन्य उपाय भी बताये जा रहे हैं। व्याधि, स्त्यान (अकर्मण्यता), संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति (विषयोन्मुखता), भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व (समाधि की अप्राप्ति) और अनवस्थितत्व (चित्त की अप्रतिष्ठा)—ये सब योग के अन्तराय हैं, क्योंकि इनके कारण चित्त की एकाग्रता बाधित हो जाती है। इन अन्तरायों के साथ ही दुःख, दौर्मनस्य (मन की दुःस्थिति), अंगमेजयत्व (कम्पन आदि), श्वास-प्रश्वास की अनियमितता जैसे

दोष भी प्रादुर्भूत हो जाते हैं। ईश्वर-प्रणिधान के अतिरिक्त इन सब अन्तरायों की निवृत्ति के लिए योगी को किसी एक अभीष्ट तत्त्व में चित्त को स्थिर करने का निरन्तर आचरण करना चाहिए।

निवृत्ति के उपाय

सुख-दुःख, पुण्य और अपुण्य से संयुक्त व्यक्तियों के प्रति क्रमशः मैत्री, करुणा, मुद्रिता और उपेक्षा की भावना करनी चाहिए। इससे चित्त के राग-द्वेष आदि दोष दूर हो जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सुखी व्यक्ति के साथ मैत्री, दुःखी व्यक्ति के प्रति करुणा, पुण्यवान् के प्रति प्रसन्नता और अपुण्यवान् के प्रति ताटस्थ्य (उपेक्षा) की भावना करने से व्यक्ति का चित्त प्रसाद गुण से भर जाता है। प्राणों के प्रच्छर्दन और विधारण से भी अन्तरायों का नाश होता है। भीतरी वायु को विधिपूर्वक बाहर निकालना **प्रच्छर्दन** तथा बाह्य वायु को इसी पद्धति से भीतर धारण करना **विधारण** कहलाता है। शास्त्रों में बताया गया है कि प्राणायाम के अभ्यास से शरीरगत सारे दोष दूर हो जाते हैं। स्पष्ट है कि इस विधि से सभी तरह के विघ्नों का भी अपसारण हो जाता है।

चित्त की स्थिरता

मन की स्थिरता किसी एक विषय में धारणा का अभ्यास करने से भी मिलती है। जैसे नासिका के अग्र भाग में गन्ध संवित्, जिह्वा के अग्रभाग में रस संवित्, तालु के अग्र भाग में रूप संवित्, जिह्वा के मध्य में स्पर्श संवित् और जिह्वा के मूल में शब्द संवित् की प्रतीति होती है और इससे चित्त की एकाग्रता स्थापित होती है। चित्त की एकाग्रता के उपायों को बतलाते हुए यहाँ अन्त में बतलाया गया है कि बाह्य अथवा आन्तर अपनी अभीष्ट वस्तु में ध्यान लगाने से भी चित्त की स्थिरता प्राप्त होती है। इन उपायों से योगी जब अपने चित्त को स्थिर कर लेता है, तो परमाणु से लेकर परम महत्त्व सम्पन्न आकाश तक इसकी गति सर्वत्र अप्रतिहत हो जाती है, सब इसके वश में हो जाते हैं।

समापत्ति

इस समाधि पाद के अन्त के ४१-५१ सूत्रों में सबीज और निर्बीज समाधि का स्वरूप संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि की पृष्ठभूमि में बताया गया है। समाधि के लिए यहाँ समापत्ति शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में यह शब्द प्रयुक्त है। समापत्ति का लक्षण बताते हुए यहाँ कहा गया है कि निर्मल मणि में जैसे प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की सामर्थ्य है, उसी तरह से वृत्तियों के क्षय के कारण निर्मल चित्त सत्त्व ग्रहीता (आत्मा), ग्रहण (इन्द्रिय) और ग्राह्य (विषय) के साथ एकाग्रता और तन्मयता को स्थापित करने में समर्थ हो जाता है। चित्त

की यही स्थिति समापत्ति कहलाती है। सवितर्क और निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार समापत्ति का स्वरूप वैसा ही है, जैसा संप्रज्ञात समाधि के प्रसंग में दिया गया है। सूक्ष्म विषयों का क्रम भी तन्मात्रा से लेकर प्रकृति पर्यन्त चलता है। गुणों के परिणामों की चार कोटियाँ होती हैं—१. विशिष्ट लिंग, २. अतिविशिष्ट लिंग, ३. लिंग मात्र और ४. अलिंग। पंचमहाभूत विशिष्ट लिंग, पंचतन्मात्रा अतिविशिष्ट लिंग, बुद्धि लिंगमात्र और प्रकृति अलिंग कहलाती है। इन चतुर्विध आलम्बनों (बीजों) में समापत्ति होने से ये सब सबीज समाधि कहलाती हैं।

चित्त की निर्विचार स्थिति में निर्मलता के आ जाने पर वह प्रसाद गुण से सम्पन्न हो जाता है। उस स्थिति में योगी की प्रज्ञा एकमात्र यथार्थ का ही दर्शन करती है। आगम शास्त्र के अध्ययन से और अनुमान के सहारे प्राप्त हुई सामान्य प्रज्ञा से यह ऋतम्भरा प्रज्ञा श्रेष्ठ है, क्योंकि इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के सहारे योगी सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट पदार्थों को भी देख सकता है। इस प्रज्ञा से उत्पन्न हुआ संस्कार व्युत्थान दशा के सभी संस्कारों को प्रतिबन्धित कर देता है, अत: योगी को इस ऋतम्भरा प्रज्ञा का ही अभ्यास करना चाहिए। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के सहारे योगी जब सम्प्रज्ञात समाधि के संस्कारों को भी निरुद्ध कर देता है, तब किसी भी आलम्बन के अभाव वाली यह समापत्ति निर्बीज समाधि कहलाती है।

इस प्रकार योगशास्त्र के इस प्रथम समाधिपाद में योग, चित्त और उसकी पाँच वृत्तियों का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि अभ्यास और वैराग्य की सहायता से जब इनका निरोध हो जाता है, तब संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि में चित्त स्थिर हो जाता है। समाधि की सिद्धि के उपायों को बताते समय ईश्वर की चर्चा आई है। योग के अन्तरायों और उनके निवारण के उपायों की चर्चा के उपरान्त समाधि की स्थिरता के अन्य उपाय भी प्रदर्शित है और अन्त में समापत्ति का स्वरूप बताते हुए सबीज और निर्बीज समाधि का स्वरूप प्रदर्शित है।

क्रिया योग

द्वितीय पाद के प्रारम्भ में तप:, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान के रूप में क्रिया योग की चर्चा की गई है और कहा गया है कि इस क्रिया योग की सहायता से योगी को अविद्या आदि क्लेशों के हटाने में सहायता मिलती है और क्लेशों के हट जाने पर समाधि की भावना सरल हो जाती है। क्रिया योग का स्वरूप पुराणों और आगमों में विशेष रूप से मिलता है।

क्लेश

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। ईश्वर इनसे मुक्त रहते हैं। पुरुष को भी इनसे मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। इन

क्लेशों की चार स्थितियाँ मानी गई हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। प्रसुप्त क्लेश सोये रहते हैं, कुछ करते नहीं। योगाभ्यास से ये तनु अर्थात् क्षीण होने लगते हैं। ये क्लेश आपस में ही टकरा कर विच्छिन्न हो जाते हैं और उदार क्लेश वे होते हैं, जो व्युत्थान दशा में किसी सहायक को पाकर अपना प्रभाव दिखलाने लगते हैं। इन पाँच क्लेशों में अविद्या से ही अन्य चार की निष्पत्ति होती है। इनमें **अविद्या** एक प्रकार का मोह है। इसके कारण व्यक्ति अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में क्रमशः नित्यता, शुचिता, सुखरूपता और आत्मरूपता को देखने लगता है। इसीलिए इसे आगे के क्लेशों का मूल कारण माना गया है। दृक् शक्ति पुरुष और दर्शन शक्ति अन्तःकरण भोग्य और भोक्ता के रूप में जड़ और अजड़ के रूप में सर्वथा भिन्न है, किन्तु प्रकृति-पुरुष के संयोग से इनमें परस्पर एकात्मकता का भान होने लगता है। इस तरह की प्रतीति ही **अस्मिता** कहलाती है। **राग** नामक क्लेश सुख के बोध से और द्वेष दुःख के बोध से जुड़ा रहता है। अभिप्राय यह है कि सुख के साधनों के प्रति तृष्णा और दुःख के साधनों के प्रति विराग ही राग और द्वेष कहलाते हैं। पूर्वजन्म में अनुभूत मृत्यु के दुःख की वासना के कारण विद्वान् व्यक्ति भी स्वाभाविक रूप से इस जन्म में भी निरन्तर भयभीत रहता है। वह चाहता है कि शरीर, विषय आदि से मेरा वियोग कभी न हो। इस तरह के विचार कृमि से लेकर ब्रह्मा तक के सभी जीवों में सदा मँडराते रहते हैं। इसी स्थिति को योगशास्त्र में **अभिनिवेश** नाम दिया गया है।

क्लेश-परिहार

चित्त की एकाग्रता के लिए इन क्लेशों का परिहार आवश्यक है। आगे इसी के उपाय प्रदर्शित हैं। चित्त में वासना के रूप से स्थित सूक्ष्म क्लेशों का परिहार भ्रष्ट बीज की तरह योगाभ्यास के द्वारा चित्त के प्रलीन हो जाने पर अपने आप हो जाता है। जिन क्लेशों ने स्थूल रूप धारण कर लिया है, उनका परिहार चित्त को एकाग्र कर ध्यान की पद्धति से किया जाता है। इन क्लेशों का परिहार इस लिए आवश्यक है कि इन क्लेशों के कारण ही इसी जन्म में अथवा जन्मान्तर में स्वरूप-ग्रहण करने वाले कर्माशियों का, शुभ और अशुभ वासनाओं का निर्माण होता है। उदाहरण के रूप में हम नन्दीश्वर, विश्वामित्र, नहुष, उर्वशी आदि के रूपान्तरण को प्रस्तुत कर सकते हैं, जो इसी जन्म में स्वरूप-ग्रहण कर चुके हैं। इन क्लेशों के कारण ही, शुभाशुभ कर्मों के विपाक-स्वरूप ही व्यक्ति को विविध जातियों, अल्पायु-चिरायु के रूप में विभिन्न आयुओं और विभिन्न भोगों की उपलब्धि होती है। मनुष्य को जाति, आयु और भोग की उपलब्धि अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण होती है, अतः तदनुसार ही उसे प्रसाद अथवा परिताप की प्राप्ति होती है। ईश्वर तो इन क्लेशों, कर्माशियों और उनके विपाकों

से मुक्त है। इसीलिए ईश्वर की स्थिति इन सबसे मुक्त, पुरुषविशेष के रूप में मानी गई है।

संसार की दुःखरूपता

योगी भी इस स्थिति को प्राप्त करना चाहते हैं। अतः विवेकी पुरुष के लिए इस संसार की प्रत्येक वस्तु दुःखमय ही है, क्योंकि सर्वत्र परिणामदुःखता, तापदुःखता और संस्कारदुःखता अपरिहार्य रूप में विद्यमान रहती है। गर्धा (राग) के बढ़ जाने पर प्रथम, द्वेष के कारण द्वितीय और अभिनिवेश के कारण तृतीय प्रकार के दुःख का विवेकी पुरुष को भी सामना करना पड़ता है। साथ ही सत्त्व, रज और तम गुणों की वृत्तियाँ भी परस्पर विपरीत हो जाती हैं। अतः ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति चाहने वाला विवेकी पुरुष समस्त सांसारिक विषयों से दूर ही रहना चाहता है।

चतुर्व्यूह शास्त्र

यह कैसे सम्भव हो सकता है, इसके लिए चिकित्साशास्त्र की पद्धति से योगशास्त्र में मान्य चतुर्व्यूह का स्वरूप बताया जा रहा है। चिकित्साशास्त्र में स्वास्थ्य लाभ के लिए रोग, रोगहेतु, आरोग्य और भैषज्य— इस चतुर्व्यूह को समझना आवश्यक है। इसी तरह से योगशास्त्र में भी कैवल्य की प्राप्ति के लिए संसार, संसारहेतु, हान और हानोपाय—इन चार स्वरूपों को समझना जरूरी है। यहाँ दुःख बहुल संसार **हेय** है। प्रधान और पुरुष का संयोग **हेयहेतु** है, अर्थात् यह संयोग ही हेय संसार का हेतु है। प्रकृति और पुरुष के संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति **हान** और सम्यग् दर्शन **हानोपाय** है। इस सम्यग् दर्शन का स्वरूप व्यासभाष्य (२.१५) में निर्दिष्ट है। योगशास्त्र में निर्दिष्ट चतुर्व्यूह का स्वरूप सूत्रों में वर्णित है।

यहाँ बताया गया है कि अनागत दुःख (आने वाला) **हेय** है। अतीत और वर्तमान दुःख को इस कोटि में नहीं रखा जा सकता। द्रष्टा और दृश्य (प्रकृति और पुरुष) का संयोग **हेय** (संसार) का **हेतु** (कारण) है। यहाँ द्रष्टा और दृश्य की चर्चा आई है। इनमें दृश्य त्रिगुणात्मक होने से प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभाव वाला है। पंच महाभूतों, पंच तन्मात्राओं का, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और त्रिविध अन्तःकरणों का इसमें समावेश है। भोग और अपवर्ग इसके प्रयोजन हैं। त्रिगुणात्मक इस दृश्य की चार अवस्थाएँ हैं—विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग। इनकी चर्चा पहले (पृ० ३९) आ चुकी है। महाभूत और इन्द्रियों की **विशेष** में तथा तन्मात्रा और अन्तःकरण की **अतिविशेष** में गणना होती है। बुद्धि को **लिंगमात्र** और प्रकृति (अव्यक्त) को **अलिंग** कहा जाता है। दृश्य के नाम से

परिचित यह सारा प्रपंच हेय संसार का हेतु माना जाता है। अतः इसका हान अपेक्षित है, तभी द्रष्टा कैवल्य की ओर आगे बढ़ सकता है।

यह द्रष्टा पुरुष केवल चैतन्य-स्वरूप है। चेतना और चेतन का धर्मधर्मिभाव यहाँ अभिप्रेत नहीं है। यह शुद्ध रूप में स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है, तो भी प्रत्ययों में संक्रान्त होने पर ही इसके द्रष्टा रूप का भान हो पाता है और दृश्य जगत् का एक प्रयोजन भोक्ता के रूप में इसको प्रस्तुत करना है। किसी एक पुरुष के प्रति भोक्तृत्व-संपादन द्वारा कृतार्थ हो जाने पर भी प्रधान का यह व्यापार चलता ही रहता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध तो समस्त भोक्ताओं से है, अतः किसी एक पुरुष के मुक्त हो जाने पर भी अन्य भोक्ताओं के प्रति उसकी प्रवृत्ति बनी ही रहेगी। द्रष्टा और दृश्य के स्वभाव का निरूपण कर देने पर अगले सूत्र में इनके संयोग की व्यवस्था की गई है कि स्वशक्ति (दृश्य का स्वभाव) और स्वाभिशक्ति (द्रष्टा का स्वरूप) संवेद्य और संवेदक के रूप में विद्यमान हैं। इनके स्वरूप की उपलब्धि ही संयोग का कारण बनती है। पुरुष विषयों का उपभोग करना चाहता है और प्रकृति उसे आत्म-स्वरूप का दर्शन कराना चाहती है। यही परस्पर का उपकार्य-उपकारक भाव उनके संयोग का कारण बनता है। ''पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य'' (सां० का० २१) इस कारिका में वही विषय प्रतिपादित है। अविद्या की ही इसमें प्रधान भूमिका मानी गई है।

हेय और **हेयहेतु** के निरूपण के बाद **हान** और **हानोपाय** इस प्रकार निरूपित हैं—अविद्या के अभाव में, अर्थात् सम्यग् ज्ञान के द्वारा उसका उन्मूलन हो जाने पर प्रकृति और पुरुष का परस्पर का संयोग भी हट जाता है। चतुर्व्यूह शास्त्र का यह **हान** नामक तृतीय व्यूह है। इनके परस्पर के संयोग के हट जाने पर पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी को पुरुष की कैवल्यावस्था कहा जाता है। इस स्थिति को प्राप्त करने का उपाय (**हानोपाय**) सभी विप्लवों (अन्तरायों) से रहित विवेकख्याति है। इस विवेकख्याति के जाग जाने पर त्रिगुणात्मक प्रवृति का और त्रिगुणातीत (निर्गुण) पुरुष की उससे विविक्तता (कैवल्य) यथार्थ का यथार्थ भान जग जाता है।

विवेकख्याति

इस विवेकख्याति के जग जाने पर अन्ततः पुरुष में सात प्रकार की प्रज्ञा का उदय होता है। इनमें कार्य-विमुक्ति के रूप प्रज्ञा के चार और चित्त-विमुक्ति रूप प्रज्ञा के तीन प्रकार हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है—१. जो कुछ मुझे जानना था, उसे मैंने जान लिया है, अब कुछ जानना बाकी नहीं है। २. मेरे सारे क्लेश समाप्त हो गये हैं, अब मुझे किसी का क्षय नहीं करना है। ३. मुझे ज्ञान की प्राप्ति हो गई है और ४. अब मैं विवेक ज्ञान से सम्पन्न हो गया हूँ। अन्य

सभी विषयों को छोड़कर इसी तरह के विचार उसकी प्रज्ञा के अंग बचे रहते हैं। कार्य विषयक यह निर्मल ज्ञान ही कार्य विमुक्ति नामक प्रज्ञा कहलाती है। इसी तरह से ५. मेरी बुद्धि ने अपना प्रयोजन पूरा कर लिया है, गुणों के अधिकार छिन गये हैं, पहाड़ के शिखर से गिरे पत्थर पुनः ऊपर नहीं चढ़ सकते, उसी तरह से ये गुण भी पुनः अपना व्यापार चालू नहीं कर सकते। ६.अपने-अपने कारणों में विलीन हुए ये गुण मोह नामक अपने जनक के अभाव में और अब किसी प्रयोजन के भी न रहने से पुनः कार्योन्मुख नहीं हो सकते और ७. अब मेरी समाधि-अवस्था स्थिर हो गई है और इसीलिए अब मैं अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गया हूँ। ये तीन स्थितियाँ चित्त विमुक्ति कहलाती हैं। दोनों मिलकर प्रज्ञा की ये सात स्थितियाँ बनती हैं। सप्तविध प्रज्ञा के उदय से पुरुष **केवल** कहलाता है।

अगले २८वें सूत्र में बताया गया है कि आठ प्रकार के योग के अंगों का अभ्यास करने से विवेकख्याति के जग जाने पर चित्त के समस्त आवरणों (क्लेशों) का क्षय हो जाने पर उसमें सर्वत्र ज्ञान का आलोक फैल जाता है। इसीलिए आगे के सूत्रों में यम से लेकर प्रत्याहार पर्यन्त पाँच अंगों का स्वरूप बताया गया है।

अष्टाङ्ग योग

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योग के आठ अंग हैं। इनमें से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भेद से **यम** के पाँच प्रकार हैं। जाति, देश, काल और समय की अपेक्षा किये बिना योगी को इनका अभ्यास करना चाहिए। इसीलिए सार्वभौम महाव्रत के रूप में ये प्रसिद्ध हैं।

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान ये पाँच **नियम** हैं। इनमें से तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान की क्रियायोग के रूप में पहले भी चर्चा हो चुकी है। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से शौच के दो प्रकार हैं। मिट्टी, जल आदि से शरीर आदि की शुद्धि बाह्य और मैत्री, करुणा आदि की सहायता से चित्त के मलों की शुद्धि आन्तर कहलाती है। जो कुछ मिले, उससे प्रसन्न रहना सन्तोष कहलाता है। योग के अन्तराय भूत हिंसा आदि के जग जाने पर उनके प्रतिपक्षी अहिंसा आदि की भावना करने से उनका निवारण हो जाता है, अतः यमों और नियमों की भी योगाङ्गता मान्य है।

यमों और नियमों का स्वरूप

हिंसा आदि वितर्कों की अभी चर्चा हुई है। आगे ३४वें सूत्र में इनके स्वरूप, भेद आदि का परिचय दिया गया है। हिंसा आदि वितर्कों को १. स्वयं

करने, २. दूसरों के कहने पर करने और ३. दूसरों के द्वारा अनुमोदन करने से तीन-तीन प्रकार हो जाते हैं। लोभ, क्रोध और मोह के कारण इनमें प्रवृत्ति होती है। इसी तरह से मृदु, मध्य और अधिमात्र प्रवृत्ति के भेद से भी इनके तीन-तीन भेद हो जाते हैं। इस तरह से हिंसा आदि प्रत्येक वितर्क के सत्ताईस-सत्ताईस प्रकार बन जाते हैं। इनके कारण व्यक्ति अनन्त प्रकार के दुःखों से और अज्ञान से घिरा रहता है। इन वितर्कों की इस तरह की स्थिति को समझ कर योगी को इनके प्रतिफल स्वरूप अहिंसा आदि की भावना करनी चाहिए।

योगी में **अहिंसा** की प्रतिष्ठा हो जाने पर उसके पास आने पर सर्प-नकुल, काक-उलूक जैसे जीव आपस के वैर-भाव को छोड़ देते हैं। हिंसक जीव हिंसा का परित्याग कर देते हैं। **सत्य** की प्रतिष्ठा होने पर यज्ञ-याग आदि क्रियाओं के फल स्वर्ग आदि की प्राप्ति बिना प्रयत्न के अनायास हो जाती है, वह जो कुछ कहता है, वह अवश्य यथार्थ में परिणत हो जाता है। **अस्तेय** की प्रतिष्ठा होने पर योगी के लिए सभी प्रकार के दिव्य रत्न सुलभ हो जाते हैं। **ब्रह्मचर्य** की प्रतिष्ठा होने पर योगी को निरतिशय सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। इसी तरह **अपरिग्रह** की स्थिरता पर योगी को जन्मान्तरों की भी सम्यक् प्रतीति होने लगती है।

पंचविध यमों के अभ्यास से प्राप्त होने वाली सिद्धियों को बताकर अब नियमों के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाली सफलताओं की चर्चा की जा रही है। **शौच** की भावना से योगी में अपने अशुचिकाय के प्रति भी विरक्ति हो जाती है और इसी के आधार पर वह दूसरों के साथ सम्पर्क नहीं रखना चाहता। इसी के कारण उसके सात्त्विक पात्रों में रज और तम का सम्पर्क न रखने से निर्मलता आ जाती है। सौमनस्य, एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय, आत्मस्वरूप के दर्शन की योग्यता जैसे गुणों का आविर्भाव भी शौच का पालन करने वाले योगि में हो जाता है। **सन्तोष** व्रत का पालन करने से अनुत्तम आन्तर सुख की प्राप्ति होती है, जो बाह्य सुखों की अपेक्षा सैकड़ों गुना श्रेष्ठ है। **तप** के अनुष्ठान से क्लेश आदि अशुद्धियों का क्षय हो जाने के कारण शरीर और इन्द्रियों में विशेष प्रकार का सामर्थ्य पैदा हो जाती है। **स्वाध्याय** करने से अपने इष्टदेव का साक्षात्कार हो जाता है। इसी तरह से **ईश्वर-प्रणिधान** से, श्रद्धा और भक्ति पूर्वक ईश्वर का स्मरण-पूजन करने से अनायास ही समाधि की प्राप्ति हो जाती है।

३. आसन

यमों और नियमों का स्वरूप और उनके पालन से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का स्वरूप बताने के बाद अब तृतीय योगाङ्ग आसन का स्वरूप बतलाया जा रहा है। योगी लम्बे समय तक बिना हिले-डुले आराम से बैठने का जो अभ्यास करता है, उसे आसन कहा जाता है। शास्त्रों में इसके पद्मासन आदि

अनेक भेद वर्णित हैं। इनमें से किसी एक आसन को योगी जब सिद्ध करना चाहता है, तो उसके लिए प्रयत्न की शिथिलता अपेक्षित है, धीरे-धीरे अभ्यास को बढ़ाना पड़ता है और अनन्त (पृथ्वी को धारण करने वाले शेषनाग) में समापत्ति (समाधि) लगानी पड़ती है कि भगवान् अनन्त किस प्रकार स्थिर भाव से पृथ्वी को धारण किए हुए हैं। इस प्रक्रिया से आसन के स्थिर हो जाने पर योगी को सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास जैसे द्वन्द्व पीड़ा नहीं पहुँचा सकते।

४. प्राणायाम

आसन की स्थिरता प्राप्त हो जाने के बाद योगी प्राणायाम का अभ्यास करता है। आसन की स्थिरता प्राप्त होने के उपरान्त श्वास और प्रश्वास, प्राण और अपान की गति को नियन्त्रित करना ही प्राणायाम कहलाता है। रेचक, पूरक और कुंभक के भेद से यह तीन प्रकार का होता है। बाहर निकलने वाला श्वास रेचक, भीतर प्रवेश करने वाला प्रश्वास पूरक और भीतर रोका गया कुंभक कहलाता है। कुंभ (घड़े) में भरा गया जल जैसे स्थिर रहता है, उसी तरह कुंभक प्राणायाम में प्राण को स्थिरता प्राप्त होती है। यह त्रिविध प्राणायाम देश, काल और संख्या से परिच्छिन्न होकर स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ता है। देश से यहाँ नासिका, द्वादशान्त आदि स्थानों का, काल से मात्राओं के प्रमाण का और संख्या से प्रथम, द्वितीय आदि उद्घातों का ग्रहण किया जाता है। नाभि के मूल से उठकर द्वादशान्त पर्यन्त जाने वाली प्राण की गति ही **उद्घात** कहलाती है। त्रिविध प्राणायाम के अतिरिक्त एक चतुर्थ प्राणायाम भी है। इसमें प्राण के बाह्य विषय नासिका, द्वादशान्त आदि और आभ्यन्तर विषय हृदय नाभिचक्र आदि विषयों का ध्यान करते हुए कुंभक स्थिति में रहना पड़ता है। सामान्य कुंभक से इसकी विशेषता यह है कि वहाँ बाह्य अथवा आन्तर विषयों का आक्षेप नहीं करना पड़ता। चतुर्थ प्राणायाम में ये अपेक्षित हैं। इस चतुर्विध प्राणायाम के अभ्यास से चित्तानत्वरूपी प्रकाश के क्लेश आदि आवरण नष्ट हो जाते हैं और मन धारणा के अभ्यास के योग्य बन जाता है।

५. प्रत्याहार

प्राणायाम के अनन्तर प्रत्याहार नामक पाँचवें योगाङ्ग का सामान्य अर्थ यह है कि इसकी सहायता से इन्द्रियों को विषयों के आकर्षण से हटाया जाता है, उन्हें अन्तर्मुख किया जाता है। इसकी विधि यह है—चक्षु आदि इन्द्रियों को उनके रूप आदि विषयों से हटा लेने पर उनकी स्थिति चित्त में स्थिर हो जाती है। इसके कारण चित्त के अतिरिक्त इनकी अपनी कोई स्थिति नहीं रह जाती। रानी मधुमक्खी का जैसे अन्य मक्खियाँ अनुसरण करती हैं, उसी तरह से सारी इन्द्रियाँ मन के पीछे दौड़ती हैं। चित्त का निरोध हो जाने पर अपने-अपने विषयों के साथ

इन्द्रियाँ भी उसी में विलीन हो जाती हैं। विषयों के साथ इन्द्रियों का चित्त में यह विलय ही प्रत्याहार कहलाता है। इस प्रत्याहार के अभ्यास से योगी की सारी इन्द्रियाँ पूरी तरह से उसके वश में हो जाती हैं। 'परमा वश्यता' का अभिप्राय यह है कि प्रेरित करने पर भी वे इन्द्रियाँ फिर कभी विषयोन्मुख नहीं होतीं।

अष्टाङ्ग योग के आठ अंगों में से यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार नामक पाँच अंगों का निरूपण योगशास्त्र के द्वितीय साधन पाद में और अन्य तीन धारणा, ध्यान और समाधि का स्वरूप तृतीय विभूतिपाद में वर्णित है। ऐसा क्यों किया गया? इसका उत्तर स्वयं सूत्रकार ने दिया है। आगे उसकी चर्चा होगी।

६. धारणा

नाभिचक्र, द्वादशान्त, नासिका का अग्र भाग जैसे स्थानों में चित्त को अन्य विषयों के परिहार के साथ स्थिर करना **धारणा** कहलाती है। इसका अभिप्राय यह है कि मैत्री, करुणा आदि की भावनाओं की सहायता से योगी जब अपने अन्त:करण को परिशुद्ध कर ले, तब उसे यमों और नियमों का पालन करते हुए अपने अभ्यस्त आसन पर बैठ कर प्राणायाम के अभ्यास से प्राणों के विक्षेप को और प्रत्याहार की सहायता से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने के उपरान्त समस्त बाधाओं से रहित स्थान पर शरीर पर और समस्त द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त कर लेने के उपरान्त नासिका के अग्रभाग के स्थानों में संप्रज्ञात समाधि का अभ्यास करने के लिए चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिए। योगशास्त्र में धारणा के नाम से यह प्रसिद्ध है। काश्मीरी योगशास्त्र के ग्रन्थ विज्ञानभैरव में इस तरह की ११२ धारणाओं का परिचय दिया गया है।

७. ध्यान और ८. समाधि

धारणा के अभ्यास से जिस स्थान पर चित्त को स्थिर करने का अभ्यास किया गया, उसी स्थान पर चित्त की एकाग्रता को निरन्तर बनाये रखना **ध्यान** नामक योगाङ्ग है। इस ध्यान में जब केवल ध्येय विषय की प्रतीति बची रहती है और ज्ञान का स्वरूप तिरोहित हो जाता है, तब यह ध्येय स्वरूप की शून्यता ही **समाधि** कहलाती है। विक्षेपों का परिहार करते हुए ध्येय वस्तु में जब चित्त लीन हो जाता है, तो यही स्थिति समाधि के नाम से जानी जाती है।

एक ही विषय को आलम्बन बना कर जब उसमें धारणा, ध्यान और समाधि का क्रमश: अभ्यास किया जाता है, उसे ही योगशास्त्र में **संयम** कहा जाता है। किसी भी विषय में इस संयम का अभ्यास करने से योगी के चित्त में विवेकख्याति रूप प्रज्ञा का प्रकाश फैल जाता है। उस स्थिति में योगी को उत्तरोत्तर भूमियों में प्रवेश पाने का अभ्यास करना चाहिये, अर्थात् स्थूल से सूक्ष्म

में प्रविष्ट होना चाहिए। नीचे की भूमि को स्वायत्त किए बिना ऊपर की भूमि में प्रवेश पाने का प्रयत्न फलीभूत नहीं हो पाता।

प्रथम पाँच अंगों का द्वितीय पाद में आगे के तीन अंगों का परिचय तृतीय पाद में क्यों किया गया? इस प्रश्न का समाधान करते हुए यहाँ सातवें सूत्र में बताया गया है कि ये तीन अंग पूर्वोक्त पाँच अंगों की अपेक्षा अन्तरङ्ग हैं। अर्थात् संप्रज्ञात समाधि की सिद्धि में धारणा, ध्यान और समाधि की साक्षात् उपयोगिता रहने से ये अन्तरङ्ग उपाय माने गये हैं और यम, नियम आदि की उपयोगिता धारणा आदि के लिए होने से ये संयम की दृष्टि से बहिरङ्ग हैं। इसी तरह से निर्बीज समाधि की सिद्धि में ये अन्तरङ्ग तीन उपाय भी बहिरङ्ग माने जाते हैं, क्योंकि निर्बीज समाधि की सिद्धि में संप्रज्ञात समाधि की ही साक्षात् उपयोगिता मानी गई है।

विविध परिणाणी

योग के आठों अंगों का निरूपण यहाँ आकर पूरा हो जाता है। सांख्य और योग का यह सिद्धान्त है कि कोई भी वस्तु एक क्षण के लिए भी बिना परिणाम के नहीं रहती। सांख्यकारिका में परिणाम शब्द की व्याख्या नहीं मिलती। इस कमी की पूर्ति योगशास्त्र में की गई है। निरोध परिणाम, समाधि परिणाम और एकाग्रता परिणाम के साथ यहाँ धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम का स्वरूप भी प्रतिपादित है। आगे क्रमशः इनके लक्षण बताए जा रहे हैं।

व्युत्थानावस्था में संस्कारों का तिरोभाव और निरोधावस्था के संस्कारों का प्रादुर्भाव होने पर निरोधक्षण के साथ चित्त की जो अनुस्यूति बनी रहती है, उसे **निरोध परिणाम** कहा जाता है। चित्त की क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त नामक तीन भूमियाँ व्युत्थानावस्था और एकाग्र एवं निरुद्ध नामक वृत्तियाँ निरोधावस्था कहलाती हैं। जब व्युत्थानावस्था के धर्म तिरोहित और निरोधावस्था के संस्कार उद्‌बुद्ध होते हैं, तब दोनों ही स्थितियों में धर्मी के रूप में चित्त जुड़ा रहता है, तो भी निरोधावस्था के परिणामों के उद्‌बुद्ध हो जाने पर उस समय निरोध परिणाम सतत क्रियाशील रहता है। इस निरोध परिणाम के कारण उस समय चित्त उसी तरह प्रवहमान रहता है, जैसे नदी का प्रशान्त जल-प्रवाह। सदृश परिणाम के कारण यह संभव होता है।

सर्वार्थता और एकाग्रता ये दोनों ही चित्त के धर्म हैं। चलनशील चित्त नाना प्रकार के अर्थों को ग्रहण करता है। यह विक्षिप्त चित्त का धर्म है। विक्षेप के हट जाने पर चित्त एकाग्र हो जाता है। सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता का उदय होने पर चित्त का जो परिणाम होता है, उसे **समाधि परिणाम** कहा जाता है। निरोध परिणाम की अपेक्षा समाधि परिणाम की यह विशेषता है कि वहाँ संस्कारों का

तिरोभाव और प्रादुर्भाव होता है, जब कि यहाँ पूर्व संस्कारों का क्षय और उत्तर संस्कारों का उदय होता है।

एकाग्रता परिणाम का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि समाहित चित्त की एक अवस्था शान्त हो गई है, अर्थात् अतीत (भूत) काल में प्रविष्ट हो गई है और तत्सदृश दूसरी अवस्था प्रकट हो गई है, अर्थात् वर्तमान काल में आ गई है, तो इस उभयविध एकाग्रता में चित्त की समान रूप से उपस्थिति रहने से इसे **एकाग्रता परिणाम** कहा जाता है।

निरोध परिणाम, समाधि परिणाम और एकाग्रता परिणाम नामक ये तीनों परिणाम चित्त के परिणाम हैं। इन्हीं के उदाहरण पर स्थूल-सूक्ष्म-भूतों और इन्द्रियों (दशविध) का भी धर्म लक्षण और अवस्था के भेद से त्रिविध परिणाम होता रहता है। धर्मी की उपस्थिति में पूर्व धर्म की निवृत्ति के साथ नये धर्मों की उत्पत्ति **धर्म परिणाम** कहलाती है, जैसे मिट्टी पिण्डात्मक पूर्व रूप को छोड़कर घट रूप को धारण कर लेती है। **लक्षण परिणाम** में वस्तु भविष्य से वर्तमान में और वर्तमान से अतीत अवस्था में प्रविष्ट हो जाती है। एक ही घट का प्रथम और द्वितीय क्षण में जो सदृश परिणाम होता है, उसे **अवस्था परिणाम** कहते हैं। यहाँ का यह मान्य सिद्धान्त है कि गुणों की वृत्तियाँ बिना परिणाम के एक क्षण के लिए भी नहीं ठहरती।

धर्मी का स्वरूप

धर्मी की ऊपर चर्चा आई है। उसी का स्वरूप अब बताया जा रहा है। धर्मों की शान्त, उदित और अव्यपदेश्य नामक तीनों स्थितियों में जो विद्यमान रहता है, वह **धर्मी** कहलाता है। शान्त उन धर्मों को कहते हैं, जो अपना-अपना काम कर अतीत काल में प्रविष्ट हो जाते हैं। उदित वे धर्म हैं, जो भविष्य की स्थिति को छोड़ कर वर्तमान काल में कार्यरत हैं। इसी तरह अव्यपदेश्य वे धर्म हैं, जो अभी धर्मी में शक्ति के रूप में स्थित हैं। इन तीनों ही स्थितियों से जो जुड़ा हुआ है, वही धर्मी है। धर्मी के रूप में सुवर्ण को यहाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। सुवर्ण कटक का रूप त्याग कर जब कुंडल बन जाता है, तो सुवर्ण का कटक रूप शान्त हो जाता है और कुंडलरूप उदित हो उठता है। भविष्य में कुंडल अन्य अनेक रूप धारण कर सकता है, तो भी इन तीनों ही स्थितियों में सुवर्ण की सत्ता बनी रहती है। इसी तरह से सुवर्ण, मृत्तिका, तन्तु आदि की धर्मी के रूप में सत्ता मानी जाती है।

एक ही धर्मी के अनेक परिणाम कैसे हो सकते हैं? इस प्रश्न का समाधान अगले १५वें सूत्र में दिया गया है। अभी धर्म परिणाम की चर्चा आई है। धर्मी में विद्यमान धर्मों का जो प्रत्येक क्षण में परिणाम होता है, उसी के कारण नाना

प्रकार के परिणाम होते रहते हैं। अभिप्राय यह है कि किसी भी धर्मी के धर्मों का एक नियत क्रम से ही परिणाम होता है। जैसे मिट्टी में पानी डाल कर उसका पिंड बनाया जाता है। उससे पहले कपाल का और बाद में घट का निर्माण होता है। इन भिन्न-भिन्न धर्मों के परिणाम के क्रम के कारण ऐसा प्रतीत होता है, मानों एक ही धर्मी में नाना प्रकार के परिणाम हो रहे हैं। सभी पदार्थ एक निश्चित क्रम से प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। एक ही धर्मी में विद्यमान धर्मों के, लक्षणों के और अवस्थाओं के परिणाम के कारण नाना प्रकार के परिणामों की प्रतीति होती है। दुःख एवं सुख आदि मानसिक तथा शारीरिक अवयवों में होने वाले परिणाम प्रत्यक्षतः दिखाई पड़ते हैं और धर्म, संस्कार आदि में हो रहे परिणामों का ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है।

योगी की विभिन्न स्थितियाँ

तृतीय पाद का नाम विभूतिपाद है। अभी यहाँ त्रिविध परिणामों की सूचना दी गई है। इनमें संयम करने से योगी को भूत और भविष्य का ज्ञान अनायास हो जाता है। इसी तरह से इस पूरे पाद में सभी प्राणियों की बोलियों की, पूर्वजाति की, दूसरे के चित्त की तथा अन्तर्धान आदि सिद्धियों की प्राप्ति के प्रकारों का वर्णन किया गया है। इन विभूतियों के वर्णन के साथ ही यह भी बताया गया है कि सांसारिक व्यवहार में रुचि रखने वाला ही इनमें लिप्त रहता है, वस्तुतः समाधि की प्राप्ति में तो ये सब विभूतियाँ विघ्नस्वरूप ही हैं (३.३७)। इन सभी नाना प्रकार की विभूतियों के प्रति जिस योगी के चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तो इसके कारण राग आदि समस्त दोषों का भी क्षय हो जाने से उसे **कैवल्य** की प्राप्ति हो जाती है, वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

ऐसी स्थिति में पहुँचे योगी को आसक्ति और अभिमान का त्याग कर देना चाहिए, अन्यथा वह पुनः सांसारिक प्रलोभनों में फँस जायेगा। इस प्रसंग में चार प्रकार के योगियों की चर्चा आई है। पहला योगी योगाभ्यास में प्रवृत्त होकर कुछ सफलता प्राप्त करता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा से सम्पन्न दूसरा, धूतेन्द्रियजयी तीसरा और समस्त भावनाओं से ऊपर उठा योगी चौथे प्रकार का है। इनमें चौथा योगी तो सात प्रकार के प्रज्ञा के अन्तिम छोर तक पहुँच जाता है, किन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा से सम्पन्न द्वितीय प्रकार का योगी जब दूसरी मधुमती भूमिका में प्रविष्ट होता है, तो उसे देवगण दिव्य स्त्री, रसायन आदि का प्रलोभन देते हैं। योगी को इस प्रलोभन में नहीं फँसना चाहिए और न ही अपनी सिद्धि के अहंकार में ही डूबना चाहिए। ऐसा करने से वह उन दिव्य योगों के उपभोग में फँस जायेगा अथवा अपनी सफलता के मद में डूब कर समाधि की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना ही छोड़ देगा।

तारक ज्ञान

आसक्ति और अभिमान से ऊपर उठे हुए योगी को अन्ततः तारक ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसकी सहायता से वह स्थूल एवं सूक्ष्म समस्त तत्त्वों का सभी स्थितियों में सदा साक्षात्कार करता रहता है और इस ज्ञान में किसी क्रम की भी स्थिति नहीं रहती, हथेली पर रखे आँवले की तरह उसे समस्त वस्तुओं का सदा भान होता रहता है। विवेकख्याति से सम्पन्न योगी में जब तारक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तो उस स्थिति में सत्त्व और पुरुष की समान रूप से शुद्धि हो जाने पर, अर्थात् प्रकृति के कर्तृत्वाभिमान तथा पुरुष के भोगाभिमान की एक साथ निवृत्ति हो जाने पर पुरुष को कैवल्यावस्था की प्राप्ति हो जाती है, उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

प्रथम पाद में समाधि का स्वरूप बता कर द्वितीय पाद में समाधि के यम-नियम आदि बाह्य साधनों का और तृतीय पाद में आन्तर साधनों के निरूपण के साथ संयम से प्राप्त होने वाली विभिन्न विभूतियों का वर्णन कर कैवल्य-प्राप्ति तक की प्रक्रिया को बताया गया है। इसके बाद चतुर्थ कैवल्य पाद में इसकी अधिगति की प्रक्रिया को विस्तार से समझाया गया है।

सिद्धियाँ

तृतीय विभूतिपाद में जिन विभूतियों का वर्णन गिया गया है उनके विषय में चतुर्थ पाद के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से ये सिद्धियाँ प्रप्त होती हैं। पक्षियों को आकाश में उड़ने का सामर्थ्य जन्म से ही प्राप्त है। पारद आदि रसायनों (औषधि) की सहायता से और मन्त्रों की सहायता से भी कुछ साधक आकाश गमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। मुनि विश्वामित्र को तप के कारण सिद्धि प्राप्त हुई और समाधि से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन अभी विभूति पाद में किया गया है। ये सारी सिद्धियाँ पूर्वजन्म में योगाभ्यास के द्वारा क्लेशों का क्षय किए योगियों को ही प्राप्त होती है।

कभी-कभी वर्तमान जन्म में ही जात्यन्तर की प्राप्ति हो जाती है, जैसे नन्दीश्वर की जाति का इसी जन्म में परिवर्तन हो गया। यह कार्य प्रकृति की विशेष प्रक्रिया से सम्पन्न होता है। प्रकृति में संचित पूर्व संस्कार ही इस जन्म में उद्‌बुद्ध होकर यह कार्य करते हैं। इस जन्म में किए गए धर्म आदि निमित्तों की इसमें प्रयोजकता नहीं मानी जाती। उनका उपयोग केवल प्रतिबन्ध को हटाने में होता है। किसान एक खेत से दूसरे खेत में पानी पहुँचाने के लिए जैसे मात्र अवरोधक को हटाता है। उसके बाद खेत में पानी तो अपने आप भर जाता है। उसी तरह प्रकृति के आपूर से जात्यन्तर-परिणाम अपने आप हो जाता है। योगी अपनी इच्छा से जब अनेक शरीर धारण करता है, तो नवनिर्मित प्रत्येक शरीर के

लिए चित्त का निर्माण अस्मिता की सहायता से होता है। अनेक चित्तों का निर्माण हो जाने पर भी योगी का जो प्रधान चित्त है, उसी की सहायता से भिन्न-भिन्न शरीरों में विद्यमान चित्त भिन्न-भिन्न रूप में कार्य करते हैं।

प्रथम सूत्र में जिन पाँच प्रकार की सिद्धियों का वर्णन किया गया है, उन सिद्धियों से सम्पन्न जीव का चित्त भी पाँच प्रकार का होता है। उनमें समाधि के संस्कार से सम्पन्न योगी के चित्त में क्लेश आदि की कोई वासना नहीं रहती। चित्त की विलक्षणता के समान योगी का कर्म भी विलक्षण होता है। कर्म शुक्ल, कृष्ण और इन दोनों से संकीर्ण—इस तरह से तीन प्रकार का होता है, किन्तु योगी का कर्म न तो शुक्ल होता है और न कृष्ण ही। इस चतुर्थ कर्म का कोई फल नहीं मिलता, किन्तु अन्य समाधि कर्मों की वासना चित्त में बनी रहती है और जाति, आयु तथा भोग के रूप में उनका फल मिलता है। जाति, देश और काल का व्यवधान होने पर भी इन वासनाओं की निरन्तरता बनी रहती है, क्योंकि स्मृति और संस्कार की प्रकृति एक सरीखी है, क्योंकि किसी वस्तु का अनुभव होने पर या किसी कर्म को करने पर जो संस्कार उत्पन्न होता है, वही स्मृति या वासना का रूप धारण कर लेता है।

वासना-त्याग

इनमें से कर्म की वासनाएँ अनादि काल से चली आ रही है, क्योंकि मनुष्य की आकांक्षाओं का कोई आदि या अन्त नहीं है। योगशास्त्र में इनको महामोह नाम दिया गया है। मैं सदा सुखी रहूँ, मेरे पास दुःख कभी न आवे, इस तरह की लालसा मनुष्य जाति में सदा रही है और आगे भी कोई एक इससे भले ही मुक्त हो जाय, इसका समूल नाश नहीं किया जा सकता। जो योगी इससे छुटकारा पाना चाहता है, उसे इसके हेतु, फल और आलम्बनों का परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि अनन्त प्राप्त वासनाओं का त्याग सम्भव नहीं है, अतः वासनाओं के कारणभूत अनुभव, राग, अविद्या आदि का त्याग करने से इनसे उद्भूत वासनाओं का नाश हो जाता है। वासनाओं का फल शरीर, स्मृति आदि हैं और बुद्धिसत्त्व आश्रय है। इन सबका परित्याग कर देने से, अर्थात् ज्ञान और योग रूपी वह्नि से इनको जला देने पर निर्मल चित्त में वासनाओं का उदय ही नहीं होगा। ये वासनाएँ अपने आप समाप्त हो जायेंगी। यह संभव नहीं है, क्योंकि वर्तमान के समान अतीत (भूत) और अनागत (भविष्य) काल में भी इनकी सत्ता बनी रहती है। यह सामान्य नियम है कि सभी धर्मों की स्थिति तीनों कालों में रहती है, सत्कार्यवाद के अनुसार असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का उत्पाद नहीं होता। इस प्रकार तीनों कालों में इनकी स्थिति मानी जाती है, अपवर्ग

पर्यन्त निरन्तर प्रवहमान इन धर्मों के साथ धर्मी के रूप में चित्त की निरन्तरता बनी रहती है।

चित्तसत्त्व और पुरुष

चित्तसत्त्व रूप धर्मी के साथ त्रिगुणात्मक व्यक्त और अव्यक्त (सूक्ष्म) धर्मों की, महाभूतों के साथ बाह्य और आन्तर इन्द्रियों की अनुस्यूति सदा बनी रहती है। इसी तरह से धर्मों की भिन्नता के रहते हुए भी इनका परिणाम एक सरीखा रहता है, अत: किसी एक चित्तसत्त्व के साथ जुड़े हुए सभी धर्मों की समानता के आधार पर परिणामत: कोई भिन्नता नहीं बन पाती। तत्त्वों भिन्नता के होने पर भी ज्ञान और अज्ञान के कारण चित्तसत्त्व की भिन्नता मानी जाती है, अर्थात् ज्ञान से सम्पन्न चित्त की प्रवृत्ति अज्ञानावृत चित्त से सर्वथा भिन्न रहती है। स्त्री को यहाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उसके प्रति किसी का राग, अन्य का द्वेष और योगी का उपेक्षा भाव देखने को मिलता है। इसी तरह से किसी भी वस्तु का ज्ञान उसकी चित्त पर छाप पड़ने पर ही होता है, इसके अभाव में वस्तु के रहतें हुए भी वह अज्ञात रहती है।

इस चित्तसत्त्व की अपेक्षा पुरुष की प्रवृत्ति भिन्न प्रकार की है। चित्त की प्रमाण, विपर्यय आदि वृत्तियों का ज्ञान चित्त के स्वामी पुरुष को सदा बना रहता है, क्योंकि पुरुष में परिणामिता मानी ही नहीं जाती। अपरिणामी होने से प्रमाता पुरुष के सामने चित्त की समस्त वृत्तियाँ सदा सामने रहती हैं। चित्त और पुरुष की भिन्नता इस लिए भी मानी जाती है कि चित्त अपने में समर्पित विषयों का ज्ञान तो कर पाता है, किन्तु वह स्वयं अपने को प्रकाशित करने में असमर्थ है। इसके विपरीत पुरुष चित्त की वृत्तियों के साथ स्वयं अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करने में समर्थ है। इस अन्तर का कारण यह है कि चित्त दृश्य है और पुरुष द्रष्टा। चित्तसत्त्व स्वयं को प्रकाशित करने में इस लिए भी असमर्थ है कि वह एक साथ दृश्य और द्रष्टा की भूमिकायें नहीं उतार सकता। यह वस्तु सुख देने वाली अथवा दु:ख देने वाली है, इस वृत्ति के साथ मैं सुखी या दु:खी हूँ, इस वृत्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दृश्य और द्रष्टा की स्थिति पूरी तरह से भिन्न है, एक ही समय में दोनों स्थितियों का भान हो नहीं सकता। इनके स्वभाव की भिन्नता ही इसमें अवरोधक है। यदि हम यह माने कि बुद्धि भले ही स्वयं अपने को ग्रहण करने में असमर्थ हो, किन्तु दूसरी बुद्धि प्रथम बुद्धि को ग्रहण कर सकेगी, किन्तु ऐसा मानने पर अनवस्था दोष होगा, क्योंकि इस प्रक्रिया में दूसरे को ग्रहण करने के लिए तीसरी और तीसरी के लिए चौथी—इस तरह से निरन्तर भिन्न-भिन्न बुद्धियों की कल्पना करनी पड़ेगी और इसका कहीं अन्त नहीं होगा। दूसरा दोष स्मृतिसंकर के रूप में उपस्थित होगा। इस प्रक्रिया में

बुद्धियों और स्मृतियों की अनन्तता की आपत्ति होगी और कौन सी स्मृति किस बुद्धि की है, इसका निश्चय न हो पाने से रूपस्मृति के स्थान पर रसस्मृति के जाग्रत् हो जाने से इनमें साङ्कर्य दोष की प्रसक्ति होगी।

इस प्रकार बुद्धि स्वयं अपने आप को प्रकाशित नहीं कर सकती और ऊपर बताई गई पद्धति से दूसरी बुद्धि से भी उसका ग्रहण सम्भव नहीं है, अत: पुरुष की ही चित्ति वृत्तियों के ज्ञाता के रूप में और स्वप्रकाशता के रूप में मान्यता देनी पड़ेगी, क्योंकि पुरुष स्वयं चित्स्वरूप है, अत: चितिशक्ति के रूप में भी उसका बोध होता है। दीपक जैसे अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करने के साथ अपने भी प्रकाशित हो उठता है, इसके लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसी तरह से यह चितिशक्ति चित्त की समस्त वृत्तियों के प्रकाशन के साथ स्वयं अपने स्वरूप के प्रकाशन में भी समर्थ है, क्योंकि चितिशक्ति पर किसी की छाया नहीं पड़ती, इसीलिए यह अन्य पदार्थों की छाया को ग्रहण कर सकती है, अर्थात् इसमें संक्रान्त होकर जड़ात्मक बुद्धि वृत्ति चेतन-सी बन जाती है। इसी के कारण ऐसा प्रतीत होने लगता है कि संवेदन बुद्धि का ही धर्म है। इस स्थिति में चित्त द्रष्टा और दृश्य-उभयविध स्थितियों से उपरक्त होकर, दोनों की छाया के पड़ने से समस्त व्यवहार के संचालन में समर्थ हो जाता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जब चित्त से ही सारा जागतिक व्यवहार संचालित हो सकता है, तो फिर द्रष्टा के रूप में पुरुष को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? ''संघातपरार्थत्वात्'' इस सांख्यकारिका की पद्धति से यहाँ प्रकृति के प्रपंच से भिन्न पुरुष की सिद्धि २३वें सूत्र में की गई है। चित्त की जिन स्थितियों का यहाँ वर्णन किया गया है, उन वृत्तियों की असंख्य वासनाओं से आवृत होने से यह नाना रूपों में हमारे सामने उपस्थित होकर सामूहिक रूप में कार्य करता है, अत: यह सारा संघात परार्थ है, दूसरे के लिए है। यह दूसरा और कोई नहीं पुरुष ही है। इस पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति किस तरह से होती है, इसी विषय को जो इस शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है, बताने के लिए पाद की समाप्तिपर्यन्त दस सूत्रों की रचना की गई है।

सत्त्व और पुरुष की भिन्नता ऊपर स्थापित की जा चुकी है। जो योगी उक्त पद्धति से इन दोनों की विशेषताओं को हृदयंगम कर लेता है, तो उसके मन में प्रकृति (चित्त) के धर्मों के प्रति आत्मीय भावना निवृत्त हो जाती है। तब विवेकख्याति से भरा हुआ चित्त बाह्य विषयों से विमुख होकर कैवल्य के प्रति उन्मुख होने लगता है, अर्थात् वह समाधि की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील हो उठता है। जब वह समाधि की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है, तो उस स्थिति में योगी की असावधानी के कारण व्युत्थान दशा के संस्कार काम करने लगते हैं।

इनको हटाने के लिए उन्हीं उपायों का सहारा लेना चाहिए, जो अविद्या आदि क्लेशों से छुटकारा पाने के लिए बताए गए हैं (पृ० ४०)। इन उपायों का सहारा लेने से ये सारे व्युत्थानावस्था के संस्कार उसी तरह से नष्ट हो जाते हैं, जैसे भ्रष्ट बीज अंकुरित नहीं होने पाते।

विवेकख्याति की पूर्णता

विदेह मुक्ति, प्रकृतिलय आदि की ऊपर चर्चा की गई है (पृ० ३५-३६)। योगी जब यहाँ तक पहुँच कर भी उनके प्रति आसक्त नहीं होता, तो उसकी विवेकख्याति परिपूर्ण हो जाती है। उस समय उसे **धर्ममेध समाधि** की प्राप्ति हो जाती है। इस स्थिति में योगी के हृदय में परम पुरुषार्थ के साधक पुण्य और पाप से रहित प्रकृष्ट धर्मों की वर्षा होती है, अतः इसे धर्ममेध समाधि कहा गया है। ऐसा कह कर यह बताया गया है कि विवेकख्याति में धर्म ही प्रधान तत्त्व है। धर्ममेध समाधि में प्रविष्ट योगी के अविद्या आदि क्लेशों की तथा शुक्ल आदि त्रिविध कर्मों की निवृत्ति हो जाती है। इस स्थिति में उस योगी का चित्त सभी प्रकार के आवरण रूपी दोषों से मुक्त हो जाता है। उस स्थिति में निर्मल ज्ञान से सम्पन्न योगी के लिए सर्वत्र चितिशक्ति का आलोक फैल जाता है और इसके कारण कोई भी वस्तु अज्ञेय नहीं रह पाती, अर्थात् यह सारा संसार उसके ज्ञान की परिधि में आ जाता है।

योगी के इस स्थिति तक पहुँच जाने पर पुरुष के योग और अपवर्ग नामक दोनों ही प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने से कृतार्थ हुए गुणों के भोगोन्मुख और अपवर्गोन्मुख दोनों ही प्रकार के परिणामों का क्रम समाप्त हो जाता है। अब उनकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती।

क्रम-विवेचन

ऊपर के सूत्र में क्रम शब्द समाविष्ट है। यह क्रम क्या है? इसका लक्षण यहाँ बताया गया है। क्षण शब्द स्वल्प काल का बोध कराता है। एक क्षण से दूसरे-तीसरे आदि क्षणों के क्रम से चलते हुए, उनमें विलक्षणता को पैदा करते हुए अन्त में परिणमनशील वस्तु का एक स्थूल आकार बनता है जैसे दूध का दही के रूप में परिणत होना। अन्तिम परिणाम के आधार पर ही वस्तु की परिणमनशीलता का भान होता है। कोई भी वस्तु बिना परिणाम के एक क्षण के लिए भी नहीं ठहरती और कोई भी परिणाम किसी न किसी क्रम से ही होता है। इसी के आधार पर हम क्रम की सत्ता को मानने के लिए बाध्य हैं।

कैवल्य

पुरुष के भोग और अपवर्ग नामक दोनों प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने के उपरान्त पुरुषार्थों से शून्य गुणों के परिणामों के क्रम के समाप्त हो जाने पर

विपरीत परिणाम (व्युत्थान संस्कार) की समाप्ति अपने आप हो जाती है। उस स्थिति में गुणों के विकारों से अस्पृष्ट चितिशक्ति अकेली बची रह जाती है। इसी को कैवल्यावस्था कहा जाता है। दूसरे शब्दों में इसे चितिशक्ति का अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना भी कह सकते हैं। अभिप्राय यह है कि पुरुष चित्त की वृत्तियों के साथ मिलकर पहले भोग और बाद में अपवर्ग की अनुभूति करता है। इसके साथ ही गुणों का व्यापार समाप्त हो जाता है। तब पुरुष प्रकृति के सारे व्यापारों से मुक्त हो स्वयं अकेला रह जाता है। तब उसमें प्रज्ञा का आलोक भर जाता है। यही तो चितिशक्ति का स्वरूप है। अपने इसी स्वरूप में पुरुष सदा-सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाता है। सांख्य और योग दर्शन में कैवल्य (मोक्ष) का यही स्वरूप है। अन्तर इतना है कि योग दर्शन का पुरुष चिति स्वरूप है।



वेदान्त दर्शन

प्रस्थानत्रयी अथवा चतुष्टयी

प्रस्थानत्रयी अथवा प्रस्थानचतुष्टयी के आधार पर वेदान्त दर्शन का विकास हुआ है। उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र का समावेश प्रस्थानत्रयी में किया गया है। आचार्य वल्लभ ने इसमें श्रीमद्भागवत का समावेश कर प्रस्थान-चतुष्टयी को मान्यता दी। इसी पद्धति पर शैव, वैष्णव और शाक्त आगमों का इन मतों के आचार्यों ने अपने-अपने भाष्यों में उपयोग किया है, अतः इन सब आगमों का भी हम प्रस्थानचतुष्टयी में समावेश कर सकते हैं। शंकर, भास्कर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि आचार्यों ने इन्हीं के आधार पर अपने-अपने मतों की स्थापना की है। वेदान्त दर्शन में इन सभी आचार्यों के मतों का समावेश माना जाता है, किन्तु वेदान्त दर्शन के नाम से आज कल केवल शांकर वेदान्त को ही प्रसिद्धि प्राप्त हुई है।

श्रौत दर्शन और औपनिषद दर्शन की पृष्ठभूमि में ही यद्यपि वेदान्त दर्शन का विकास हुआ है, किन्तु आजकल इनको अलग-अलग प्रस्तुत करने की परम्परा सी चल पड़ी है। प्रस्थानत्रयी में उन प्राचीनतम ईशावास्य, केन, कठ आदि उपनिषदों का ही समावेश माना गया है, जिन पर आचार्य शंकर ने अपने भाष्यों की रचना की है। वेदान्त दर्शन का इतिहास लिखने वालों ने ब्रह्मसूत्र में सन्दर्भित आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न जैसे आचार्यों का परिचय दिया है। उपवर्ष, बोधायन, ब्रह्मनन्दी, टंक, भारुचि, द्रविड़ाचार्य, सुन्दरपाण्ड्य, ब्रह्मदत्त जैसे आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र पर वृत्ति, वार्त्तिक आदि की रचना की। ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी आचार्य के रूप में भर्तृप्रपंच का अपना स्थान था। आचार्य शंकर ने इनके मत की समालोचना की है। उद्धरणों से ज्ञात होता है कि इन्होंने कठ और बृहदारण्यकोपनिषद् पर भाष्य लिखे थे। परवर्ती काल के आचार्य भास्कर के छान्दोग्योपनिषद् की भी चर्चा मिलती है, ये भी ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी आचार्य थे। यह मत आचार्य शंकर को मान्य नहीं है। ऊपर चर्चित शंकर के पूर्ववर्ती आचार्यों का परिचय ब्रह्मसूत्र के हिन्दी अनुवाद की विस्तृत भूमिका में श्रद्धेय श्री श्रीगोपीनाथ कविराज ने दिया है। इन प्राचीन आचार्यों की कोई भी कृति आज हमें उपलब्ध नहीं है। केवल इनके परम गुरु आचार्य गौडपाद की रचना माण्डूक्यकारिका उपलब्ध है। माण्डूक्यकारिका पर इतिहास-ग्रन्थों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

आचार्य शंकर का आविर्भाव काल

आचार्य शंकर के जन्म-काल को अत्यधिक विवादास्पद बना दिया गया है। ख्रीष्ट-पूर्व षष्ठ शताब्दी से लेकर ख्रीष्ट के अनन्तर नवम शताब्दी तक इनका आविर्भाव काल माना जाता है। शांकर मठों के अनुयायी प्रथम मत के तथा प्राय: सभी आधुनिक इतिहासज्ञ अन्तिम मत के प्रति आग्रहशील हैं। हमारी दृष्टि से तर्क की कसौटी पर ये दोनों ही मत ठीक नहीं उतरते। ब्रह्मसूत्रभाष्य के तर्कपाद में आचार्य शंकर ने बौद्ध और जैन मतों की समीक्षा करते हुए जिन वचनों और सिद्धान्तों की चर्चा की है, उनका समय चौथी-पाँचवीं ई० शताब्दी से पहले कभी भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। आजकल के प्राय: सभी इतिहासज्ञ इनका समय ७८८ ई० से ८२० ई० मानते हैं। इस मत के प्रवर्तक स्वर्गत के०बी० पाठक माने जाते हैं। इसी मत को आज सर्वाधिक मान्यता प्राप्त हो गई है। इसके कारण लगभग तीन शताब्दियों का दार्शनिक इतिहास भ्रान्ति की चपेट में आ गया है। इसका मूल कारण है—**भारतीय परम्पराओं को मिथक मानकर उनकी उपेक्षा कर देना।**

आचार्य शंकर के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे भट्ट कुमारिल से शास्त्रार्थ करने तब पहुँचे थे, जब वे अपनी भूल का प्रायश्चित्त करने के लिए तुषाग्नि में प्रविष्ट हो गये थे। भट्ट कुमारिल एवं बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति का समय निश्चित है। उसी समय आचार्य शंकर के स्थितिकाल को दिखाने वाले मत की चर्चा उक्त भूमिका (पृ० २४-२५) में श्रद्धेय कविराज जी ने की है। यह मत भारतीय परम्परा की पोषक है। ऐसे वचनों की उपस्थिति के रहते हमें कभी भी भारतीय परम्परा को अमान्य करने का दु:साहस नहीं करना चाहिए। शक्तिसंगमतन्त्र के प्रमाण पर हमने आचार्य शंकर की जन्म-तिथि की सूचना अपने बृहद् ग्रन्थ 'तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन' (पृ० ५९९-६००) में दी है। तदनुसार विक्रम संवत् ६७२ में इनका आविर्भाव हुआ। वहाँ परिधावी संवत्सर की सप्तमी तिथि शनिवार के दिन इनके अवतार का उल्लेख किया गया है। हमने अन्त में वहाँ लिखा है कि ज्यौतिषशास्त्र की पद्धति से गणना कर इस बात की पुष्टि की जा सकती है कि विक्रम संवत् ६७२ में इन सबका योग था या नहीं? इसके आधार पर हम आचार्य शंकर की निश्चित जन्म-तिथि की स्थापना कर सकते हैं।

शांकर वेदान्त का साहित्य

आचार्य शंकर द्वारा रचित ग्रन्थों की भी विस्तृत नामावली उपलब्ध होती है। उनमें दस उपनिषदों के भाष्य, भगवद्गीता भाष्य और ब्रह्मसूत्र भाष्य उनकी रचनाएँ हैं, इसमें कोई विवाद नहीं है। सुरेश्वर, पद्मपाद, हस्तामलक और

त्रोटक—ये उनके चार प्रधान शिष्य थे और उन्होंने चारों दिशाओं में स्थापित चार पीठों पर इन्हें प्रतिष्ठित किया था। बृहदारण्यक वार्त्तिक, पंचपादिका जैसे ग्रन्थों की इन्होंने रचना की। सुरेश्वराचार्य के शिष्य सर्वज्ञात्ममुनि का संक्षेपशारीरिक, वाचस्पति मिश्र की भामती नामक भाष्य टीका जैसे अनेक ग्रन्थों की रचना इस दर्शन के आचार्यों के बुद्धि-वैभव पर प्रकाश डालते हैं। महाकवि श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य ने चित्सुखाचार्य के ग्रन्थ तत्त्वदीपिका (चित्सुखी) ने और मधुसूदन सरस्वती के ग्रन्थ अद्वैतसिद्धि ने वेदान्त सम्प्रदाय में तर्क-पद्धति को उच्च शिखर तक पहुँचाया है। कांचीपुरी से अद्वैत ग्रन्थ कोशसंग्रह नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें शांकर वेदान्त से संबद्ध ८०१ ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। हम यहाँ धर्मराजाध्वरीन्द्र की वेदान्तपरिभाषा और सदानन्द के ग्रन्थ वेदान्तसार के आधार पर वेदान्त दर्शन का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं। वेदान्त-परिभाषा में षड्विध प्रमाणों का तथा वेदान्तसार में प्रमेय तत्त्व का विशेष रूप से वर्णन हुआ है। वेदान्तपरिभाषा का प्रारम्भ पुरुषार्थचतुष्टय के और वेदान्तसार का अनुबन्धचतुष्टय और साधनचतुष्टय के विवेचन के साथ होता है। यहाँ हम प्रथमतः वेदान्त-सम्मत प्रमाणों का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं, क्योंकि 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' इस सांख्यकारिका के वचन के अनुसार प्रमाणों की सहायता से ही प्रमेयों की सिद्धि होती है।

चार पुरुषार्थ

वेदान्त परिभाषा में बताया गया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों में मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि श्रुतियों के प्रमाण से मोक्ष की नित्यता और अन्य तीन पुरुषार्थों की अनित्यता स्पष्ट हो जाती है। इस नित्य मोक्ष की प्राप्ति ब्रह्म ज्ञान से होती है, अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान और प्रमाणों का विवेचन किया गया है।

प्रमाण

प्रमा, यथार्थ ज्ञान के साधन को प्रमाण कहा जाता है। प्रमा को स्मृति से भिन्न माना जाता है और इसमें अब तक अज्ञात और कभी न बाधित होने वाले ज्ञान का समावेश किया जाता है। यहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि नामक छः प्रमाण स्वीकृत हैं। सांख्य-योग दर्शन को तीन ही प्रमाण अभिप्रेत हैं। बाकी प्रमाणों का वहाँ (पृ० १५-१६) इन्हीं में समावेश किया जाता है। इन सभी प्रमाणों से यथार्थ प्रमा की प्राप्ति होती है। इनमें प्रत्यक्ष प्रमा के कारण (साधन) को **प्रत्यक्ष** प्रमाण कहा जाता है। परमार्थता ब्रह्मात्मक चैतन्य ही प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है, किन्तु चित्त की विभिन्न वृत्तियों

के माध्यम से जीव बाह्य विषयों को भी प्रत्यक्ष देखता है। वेदान्त में संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण नामक चार वृत्तियाँ वर्णित हैं। इन वृत्तियों के कारण एक ही अन्तःकरण मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त के भेद से चतुर्विध हो जाता है। सांख्य-योग दर्शन में मन, अहंकार और बुद्धि नामक त्रिविध अन्तःकरण स्वीकृत हैं। प्रत्येक शास्त्र की अपनी-अपनी व्यवस्था होती है। दशविध इन्द्रियों के माध्यम से विषयों का ग्रहण होने पर अन्तःकरण में उसकी छाप पड़ती है। इसी को यहाँ वृत्ति का नाम दिया गया है। इन वृत्तियों के माध्यम से ही व्यक्ति को वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह प्रत्यक्ष सविकल्पक और निर्विकल्पक के भेद से दो प्रकार का होता है। सविकल्पक ज्ञान में विषय की विशिष्टता का स्पष्ट भान होता है, जब कि निर्विकल्पक ज्ञान में विषय की प्रतीति स्पष्ट नहीं हो पाती। न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी इनको स्वीकार किया गया है।

अनुमिति के करण को **अनुमान** कहते हैं। व्याप्य को देखकर व्यापक का ज्ञान अनुमान कहलाता है, जैसे पहाड़ पर धूप को देख वहाँ वह्नि का अनुमान किया जाता है। सांख्यकारिका में 'तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्' (का० ५) यह लक्षण दिया गया है। इसका भी यही अभिप्राय है। यह अनुमान स्वार्थ और परार्थ के भेद से दो प्रकार का होता है। धूप को देखकर यह पर्वत वह्निमान् है, इस तरह का जो अनुमान होता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। परार्थानुमान में प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण की सहायता से दूसरे को यही बात समझाई जाती है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में पंचावयव वाक्य अभिप्रेत है। अनुमान के सहारे ही वेदान्ती ब्रह्मभिन्न समस्त जगत् के मिथ्यात्व को स्थापित करते हैं।

तृतीय प्रमाण के रूप में यहाँ **उपमान** का ग्रहण किया जाता है। इस प्रमाण से सादृश्य का ज्ञान होता है। शहरों में रहने वाला व्यक्ति गाय से परिचित रहता है। जब वह वन में जाता है, तो गाय सरीखे पशु गवय को देखता है। इसके बाद वह विचार करता है कि इसके जैसी ही मेरी गाय है। इस प्रकार उपमान प्रमाण से उसे गौ में विद्यमान गवय के सादृश्य का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा यह हो नहीं पाता। इसलिए इस सादृश्य ज्ञान के लिए उपमान प्रमाण की आवश्यकता मानी जाती है। उपमा अलंकार में भी तो सादृश्य का ही बोध कराया जाता है।

आगम प्रमाण को यहाँ चौथे स्थान पर रखा गया है। जिस वाक्य का अभिप्रेत अर्थ प्रमाणान्तर से बाधित नहीं होता, उसे प्रमाण माना जाता है। आकांक्षा, योग्यता, आसक्ति और तात्पर्य ज्ञान की इसमें कारणता मानी जाती है। किसी प्रामाणिक वाक्य के सभी पद परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। इनमें परस्पर मिलकर सही प्रेरणा देने की योग्यता नहीं रहती है। एक वाक्य के सभी

पदों में सामीप्य का होना भी जरूरी है। अन्ततः किस अभिप्राय से वाक्य उच्चारित है, इसका भी सही बोध होना जरूरी है। इन चारों लक्षणों से सम्पन्न वाक्य ही आगम या शब्द प्रमाण के रूप में यहाँ अभिप्रेत है।

शक्य और लक्ष्य के भेद से द्विविध पदार्थ अभिप्रेत हैं। इनमें से पदों की मुख्य (प्रसिद्ध) अर्थ में प्रवृत्ति शक्यार्थ और गौण अर्थ में प्रवृत्ति लक्ष्यार्थ मानी जाती है। लक्षणावृत्ति के माध्यम से इसका ज्ञान होता है। जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा के भेद से लक्षणा तीन प्रकार की मानी जाती है। वेदान्तसार की पद्धति से इनका स्वरूप आगे बताया जायेगा।

अर्थापत्ति पाँचवाँ प्रमाण है। यहाँ उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना की जाती है। "पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" (देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता, तो भी मोटा है।) इस वाक्य में रात्रि-भोजन की कल्पना की जाती है। बिना भोजन किए कोई मोटा नहीं रह सकता। देवदत्त मोटा है और वह दिन में भोजन नहीं करता, तो स्पष्ट है कि वह रात्रि बेला में भोजन करता होगा। यह रात्रिभोजन की कल्पना ही अर्थापत्ति का विषय है। दृष्टार्थानुपपत्ति और श्रुतार्थानुपपत्ति के भेद से अर्थापत्ति दो प्रकार की है। 'नेदं रजतम्' यह दृष्टार्थापत्ति का तथा 'जीवी देवदत्तो गृहे नास्ति' यह श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण है। श्रुतार्थानुपपत्ति के भी दो भेद होते हैं—अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति। 'द्वारम्' पद का उच्चारण करने पर 'पिधेहि' पद का अध्याहार अथवा 'विश्वजिता यजेत' सुनकर 'स्वर्गकामः' पद का अध्याहार अभिधानानुपत्ति का तथा "स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत" यह अभिहितानुपपत्ति का उदाहरण है। ज्योतिष्टोम याग से जन्मान्तर में मिलने वाले स्वर्ग की प्राप्ति कैसे होगी? इस अनुपपत्ति को देखकर **अपूर्व** की कल्पना करनी पड़ती है। ज्योतिष्टोम यज्ञ के अनुष्ठान से एक अपूर्व की उत्पत्ति होती है। उसी के कारण अनुष्ठाता को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

छठा प्रमाण **अनुपलब्धि** है। व्याप्ति ज्ञान, सादृश्य ज्ञान और तात्पर्य बोधक शब्द ज्ञान से क्रमशः अनुमान, उपमान और आगम प्रमाण की निष्पत्ति होती है। अनुपलब्धि प्रमाण में इस तरह के किसी भी ज्ञान की करणता नहीं मानी जाती, अथ च यह अभाव के ज्ञान का असाधारण कारण माना गया है। अभिप्राय यह है कि अभाव की उपलब्धि का असाधारण कारण अनुपलब्धि प्रमाण है। इसमें किसी भी प्रकार के ज्ञान की कोई भूमिका नहीं रहती। यहाँ योग्यानुपलब्धि की ही अभाव ग्राहकता अभिप्रेत है। इसीलिए धर्म-अधर्म आदि के अभाव का निश्चय हम इस प्रमाण से नहीं कर सकते। प्रत्यक्ष के योग्य घट, पट आदि पदार्थों के विषय में ही हम 'इह भूतले घटो नास्ति, पटो नास्ति' ऐसा कह सकते

हैं। अनुपलब्धि प्रमाण से हमें जिस अभाव की प्रतीति होती है, वह चार प्रकार का है—१. प्रागभाव, २. प्रध्वंसाभाव, ३. अत्यन्ताभाव और ४. अन्योन्याभाव। मिट्टी के पिण्ड से घट की उत्पत्ति से पहले घट का जो अभाव रहता है, उसे प्रागभाव और दण्ड के प्रहार से घट का जो अभाव हो जाता है, उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। वन्ध्यापुत्र, शशशृङ्ग आदि की तीनों कालों में कोई स्थिति नहीं रहती, यह अत्यन्ताभाव का उदाहरण है। इसी तरह से आपस में एक-दूसरे का अभाव अन्योन्याभाव कहलाता है। जैसे घट में पट नहीं रहता और पट में घट नहीं रहता। इन चतुर्विध अभावों की प्रतीति अनुपलब्धि प्रमाण से होती है।

'व्यवहारे भाट्टनयः' की उक्ति के अनुसार मीमांसा दर्शन की पद्धति से शांकर वेदान्त में भी छः प्रकार के प्रमाणों की विवेचना मिलती है। वेदान्त-परिभाषा की पद्धति से यहाँ उनका स्वरूप बताया गया है। वेदान्त-प्रतिपाद्य प्रमेय का स्वरूप वेदान्तसार में सुबोध पद्धति से विवेचित है। अब यहाँ उसी को प्रस्तुत किया जा रहा है।

वेदान्त

वेदान्त दर्शन का प्रमुख आधार उपनिषद् हैं, यह बताया जा चुका है। उपनिषदों की स्थिति वैदिक संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक ग्रन्थों के अन्तिम भाग में रहने से मुख्य रूप से उपनिषदों के लिए ही वेदान्त शब्द का प्रयोग होता है। इसी तरह से संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक के बाद उपनिषदों की स्थिति मानी गई है। इससे भी इनके लिए वेदान्त पद सार्थक है। उपनिषदों के अतिरिक्त शारीरिक सूत्र (ब्रह्मसूत्र), भगवद्गीता आदि भी इसके उपकारक हैं। प्रथमतः यहाँ अनुबन्धचतुष्टय पर विचार किया जा रहा है।

अनुबन्ध-चतुष्टय

भारतीय शास्त्रों में सर्वत्र प्रथमतः इन पर विचार किया जाता है। १. अधिकारी, २. विषय, ३. सम्बन्ध और ४. प्रयोजन, ये इनके नाम हैं। वेदान्तशास्त्र का अधिकारी वह व्यक्ति है, जिसने विधिवत् वेदों और वेदांगों का अध्ययन किया है, इनके अर्थ से भली-भाँति परिचित है और इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में काम्य एवं निषिद्ध कर्मों को छोड़कर नित्य, नैमित्तिक तथा प्रायश्चित्त कर्मों के आचरण के द्वारा तथा भगवदुपासना के द्वारा अपने समस्त पाप कर्मों से छुटकारा पा जाने के कारण जिसका अन्तःकरण स्वच्छ हो गया है और जो साधनचतुष्टय से सम्पन्न है।

स्वर्ग आदि अपनी अभीष्ट मनोकामनाओं को पूरा करने वाले ज्योतिष्टोम आदि यागों का अनुष्ठान **काम्य** कर्म के अन्तर्गत आते हैं। नरक आदि अनिष्ट

स्थानों पर पहुँचाने वाले ब्रह्महत्या, सुरापान जैसे कर्म **निषिद्ध** कहलाते हैं। जिनका अनुष्ठान न करने पर व्यक्ति प्रायश्चित का भागी होता है, ऐसे सन्ध्यावन्दन आदि कर्म **नित्य** कहलाते हैं। पुत्र जन्म, विशिष्ट पर्व आदि विशेष अवसरों पर किये जाने वाले कर्म **नैमित्तिक** कहलाते हैं। इसी तरह अपने संचित पापों का क्षय करने के लिए चान्द्रायण जैसे व्रतों का आचरण **प्रायश्चित्त** कर्म कहलाते हैं। शाण्डिल्य विद्या, अर्थात् भक्तिशास्त्र की पद्धति से सगुण ब्रह्म के प्रति श्रद्धा-भक्ति का प्रदर्शन **उपासना** कहलाती है।

इनमें से नित्य आदि पंचविध कर्मों का अन्तिम लक्ष्य बुद्धि की शुद्धि है। उपासना से चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है। नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अवान्तर फल पितृलोक, सत्यलोक आदि की प्राप्ति है।

साधनचतुष्टय

अधिकारी प्रमाता का साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होना भी जरूरी है। इन चार साधनों में १. नित्यानित्यवस्तुविवेक, २. इहामुत्रफलभोग विराग, ३. शमादिषट्क सम्पत्ति और ४. मुमुक्षुत्व की गणना होती है। ब्रह्म ही केवल नित्य है, अन्य सभी वस्तुएँ अनित्य हैं, इस तरह का विवेक ही **नित्यानित्यवस्तुविवेक** कहलाता है। ऐहिक माला, चन्दन, वनिता आदि विषयों के प्रति तथा स्वर्ग आदि की प्राप्ति के साधन यज्ञ-याग आदि के प्रति वैराग्य का हो जाना ही **इहामुत्रार्थफलभोग विराग** कहलाता है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा—इन छः गुणों से सम्पन्न होना भी वेदान्तशास्त्र के अधिकारी के लिए आवश्यक है। उसमें मुमुक्षुत्व, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा का जग उठना भी जरूरी है। इन सभी से सम्पन्न प्रमाता ही इस शास्त्र का **अधिकारी** माना गया है।

वेदान्त शास्त्र का विषय जीव और ब्रह्म की एकता के बोध से प्राप्त होने वाली अपनी शुद्ध चैतन्यावस्था है। अपने परमार्थ शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति में ही समस्त वेदान्त का तात्पर्य निहित है। शुद्ध चैतन्य स्वरूप प्रमेय और उसके प्रतिपादक उपनिषद् आदि प्रमाणों का परस्पर बोध्य-बोधकभाव नामक सम्बन्ध माना जाता है, अर्थात् यहाँ जीव और ब्रह्म की एकता बोध्य है और उपनिषद् आदि बोधक हैं। इसका प्रयोजन जीव और ब्रह्म की एकता में बाधक अज्ञान की निवृत्ति के साथ अपने आनन्दात्मक स्वरूप की प्राप्ति है। ''तरति शोकमात्मवित्'', ''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'' इस तरह की श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

अध्यारोप और अपवाद

ऊपर निर्दिष्ट लक्षण वाला अधिकारी जन्म-मरण के ताप से तप्त होकर इससे छुटकारा पाने के लिए कोई उपहार हाथ में लेकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु की

शरण में जाता है और वह गुरु उसकी प्रार्थना पर अध्यारोप और अपवाद की पद्धति का अनुसरण करते हुए ब्रह्मज्ञान का उपदेश करता है। आगमों की भाषा में क्रमशः इनको निग्रह और अनुग्रह कह सकते हैं। हम देखते हैं कि अन्धकार आदि की स्थिति में व्यक्ति को रज्जु में सर्प की प्रतीति होने लगती है। यह अवस्तु में वस्तु का आरोप ही **अध्यारोप** कहलाता है। वेदान्तशास्त्र में सत्, चित्, आनन्द स्वरूप अद्वय ब्रह्म ही **वस्तु** है। अज्ञान के कारण भासित हो रहा समस्त जगत् **अवस्तु** है। सत्, असत् आदि के रूप में जिसका निर्वचन नहीं किया जा सकता, जो ज्ञान का विरोधी है, त्रिगुणात्मकता के कारण भाव के रूप में यह कुछ है, इस तरह से जो भासित होता है, वही **अज्ञान** कहलाता है। इसके कारण व्यक्ति अपने को अज्ञानी मानने लगता है।

आवरण और विक्षेप शक्ति

इस अज्ञान की आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियाँ हैं। बादल का छोटा सा टुकड़ा जैसे अनेक योजन प्रमाण वाले सूर्य को ढक देता है, उसी तरह अज्ञान की यह परिच्छिन्न **आवरण** शक्ति भी संसारी पुरुष की ज्ञान शक्ति को आवृत कर देती है। इस आवरण शक्ति के कारण मूढ बना पुरुष कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि अत्यन्त तुच्छ सांसारिक भावनाओं से ग्रस्त हो जाता है। यह स्थिति वैसी ही है, जिस स्थिति में प्रमाता अपने अज्ञान के कारण आवृत रज्जु में सर्प की कल्पना कर बैठता है। इसी तरह से अज्ञान की **विक्षेप** शक्ति आवरण शक्ति के कारण ढके हुए स्वात्मस्वरूप में आकाश आदि प्रपंचों की कल्पना कर लेती है। शास्त्रों में बताया भी गया है कि विक्षेप शक्ति के ही कारण प्रमाता अपने स्वरूप को भूलकर उसके स्थान पर लिंग (प्रधान) से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त समस्त जगत् की कल्पना कर बैठता है।

आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियों से सम्पन्न अज्ञान से उपहित ईश्वर नामक चैतन्य चेतना की प्रधानता होने पर जगत् का निमित्त कारण और अपनी उपाधि (अज्ञान) की प्रधानता पर उपादान कारण उसी तरह से बन जाता है, जैसे मकड़ी अपनी चेतना के कारण जाले की निमित्त और अपने शारीरिक उपादानों से उसकी उपादान कारण बनती है। तमोगुण प्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य (ईश्वर) से प्रथमतः आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। बाद में इनमें सत्त्व, रज और तम नामक त्रिविध गुण कारण-क्रम से उत्पन्न हो जाते हैं। सूक्ष्मभूत, तन्मात्रा अथवा अपञ्चीकृत भूत के नाम से ये जाने जाते हैं। इन्हीं से सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरों की उत्पत्ति होती है।

सूक्ष्म शरीर

सत्रह अवयवों वाला सूक्ष्म शरीर लिंग शरीर भी कहलाता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि, मन, पाँच कमेन्द्रियाँ और पाँच वायु—ये सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव हैं। सांख्यसम्मत अठारह अवयवों वाले सूक्ष्म शरीर से यह भिन्न प्रकार का है। सांख्य का अहंकार यहाँ परिगृहीत नहीं है और पाँच वायुओं के स्थान पर सांख्य में तन्मात्राएँ ग्रहीत हैं। यहाँ यह स्मरण रखना है कि शास्त्रों का अध्ययन अपनी-अपनी पद्धति से किया जाता है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। आकाश आदि के सात्त्विक अंश से क्रमशः इनकी उत्पत्ति होती है। अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति **बुद्धि** और संकल्प-विकल्पात्मिका वृत्ति **मन** कहलाती है। इन्हीं में चित्त और अहंकार का अन्तर्भाव माना जाता है। आकाशादि गत समस्त सात्त्विक अंशों से इनकी उत्पत्ति मानी जाती है। इनकी प्रकाशात्मकता के कारण इनको सात्त्विक गुण का कार्य माना जाता है।

यह बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिल कर **विज्ञानमय** कोश की रचना करती है और मन के साथ मिलकर ये **मनोमय कोश** बन जाती है।

वाक्, पाणि, पाद, वायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं। आकाश आदि के रजोगुण के अंश से क्रमशः इनकी उत्पत्ति होती है। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—ये पाँच वायु हैं। ऊर्ध्व गति **प्राण** वायु नासिका के अग्र भाग में रहता है। अधोवर्ती **अपान** वायु (गुदा) में निवास करता है। शरीर में सर्वत्र गमनशील **व्यान,** कण्ठ में रहते हुए उत्क्रमण करने वाला **उदान** और शरीर के मध्य भाग में स्थित खाने-पीने की वस्तुओं को पचाने वाला वायु **समान** कहलाता है। कुछ लोग नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय नामक अन्य पाँच वायुओं को भी मान्यता देते हैं. उद्गिरण (वमन, डकार) कराने वाला वायु **नाग**, उन्मीलन (पलक झपकनां) करने वाला **कूर्म,** क्षुधा को जगाने वाला **कृकल,** जृम्भा (जम्हाई) लाने वाला **देवदत्त** तथा शरीर का पोषण करने वाला वायु **धनञ्जय** कहलाता है। अन्य आचार्य इनका प्राण आदि में ही अन्तर्भाव कर देते हैं। उनके मत में प्राण आदि पाँच ही वायु मान्य हैं।

इन पञ्चविध प्राण आदि की उत्पत्ति आकाश आदि में विद्यमान रजोगुण के सम्मिलित अंश से होती है। कर्मेन्द्रियों के साथ मिल कर ये पंचविध प्राण आदि **प्राणमय कोश** कहलाते हैं। इनकी क्रियात्मकता के कारण ये रजोगुण के अंश (कार्य) माने जाते हैं। इन त्रिविध कोशों में **विज्ञानमय कोश** ज्ञान शक्ति से सम्पन्न, अत एव कर्तृस्वरूप है। **मनोमय कोश** इच्छाशक्ति से सम्पन्न, अत एव करण स्वरूप है। **प्राणमय कोश** क्रियाशक्ति से सम्पन्न, अत एव कार्य स्वरूप

है। अपनी-अपनी योग्यता के आधार पर इनका यह विभाग किया गया है। ये तीनों कोश मिलकर **सूक्ष्म शरीर** का निर्माण करते हैं।

पंचीकरण

पंचीकरण की प्रक्रिया से स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। शास्त्रों में यह इस प्रकार वर्णित है—आकाश आदि पाँच तत्त्वों में से प्रत्येक के प्रथमतः समान रूप के दो दो विभाग करने चाहिए। इस तरह इनके दस भाग हो जायेंगे। अब इन दस भागों में जो प्राथमिक पाँच भाग हैं, उनमें से प्रत्येक को चार भागों में बाँट कर उन चारों भागों को अपने-अपने अर्धभाग से भिन्न अन्य चार भूतों के अर्धभाग से मिला देना चाहिए। इस प्रक्रिया से प्रत्येक भूत में आधा भाग अपना रहता है और आधे भाग में अन्य सभी भूतों के एक एक अंश आ मिलते हैं। यही है—पंचीकरण की प्रक्रिया। पंचीकरण की प्रक्रिया यद्यपि उपनिषदों में उपदिष्ट नहीं है, तो भी छान्दोग्य उपनिषद् (६.३.२) में त्रिवृत्करण की प्रक्रिया निर्दिष्ट है। उसी के आधार पर हम पंचीकरण की प्रक्रिया को भी मान्यता दे सकते हैं। पंचीकरण की प्रक्रिया से यद्यपि पाँचों भूत पंचात्मक बन जाते हैं, तो भी प्रत्येक भूत में अपना अंश अधिक रहता है। इसी के आधार पर वे आकाश, वायु इत्यादि शब्दों से बोधित होते हैं। इस स्थिति में आकाश में शब्द की, वायु में शब्द और स्पर्श की, अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप की, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस की तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की स्थिति मानी जाती है।

इन पंचीकृत पंच महाभूतों से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः तपः और सत्यम् नामक एक से ऊपर एक स्थित सात लोकों की तथा अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल नामक एक से नीचे एक स्थित सात लोकों की अर्थात् चतुर्दश भुवनात्मक, ब्रह्माण्ड की, उस ब्रह्माण्ड में रहने वाले चतुर्विध स्थूल शरीरधारी जीवों की और उनके भरण-पोषण के लिए उचित अन्न-पान की उत्पत्ति होती है। चतुर्विध स्थूल शरीरों में जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज शरीरों की गणना होती है। जरायु से पैदा होने वाले मनुष्य, पशु आदि के शरीर **जरायुज,** अण्डों से उत्पन्न होने वाले पक्षी, साँप आदि के शरीर **अण्डज,** भूमि को भेद कर निकले वृक्ष, तूण आदि **उद्भिज्ज** तथा स्वेद (पसीना) से पैदा होने वाले यूका (जूं) आदि के शरीर **स्वेदज** कहलाते हैं। यह स्थूल शरीर ही **अन्नमय कोश** भोगायतन और जाग्रत् दशा से समन्वित माना जाता है। यहाँ आकर अध्यारोप की प्रक्रिया पूरी हो जाती है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप वस्तु में प्रपंचात्मक अवस्तु का आरोप यहाँ आकर पूरा हो जाता है। इसी के कारण व्यक्ति प्रत्यगात्मा में **अहं** के स्थान पर **इदं** पद को आरोपित करता है। विभिन्न दर्शनों में विभिन्न रूपों में इस आत्मतत्त्व की व्याख्या मिलती है।

विभिन्न दर्शनों में आत्मा

अत्यन्त जड़ बुद्धि वाला व्यक्ति अपने समान अपने पुत्र को भी प्यार करता है, पुत्र के पुष्ट या नष्ट होने पर वह स्वयं को भी पुष्ट या नष्ट हुआ मान लेता है। स्पष्ट है कि वह **पुत्र** को भी अपनी आत्मा मानता है। घर में आग लग जाने पर व्यक्ति अपने पुत्र को भी छोड़कर अपने बचाव के लिए भाग खड़ा होता है। मैं स्थूल हूँ, दुबला हूँ, इस तरह की प्रतीति उसकी अपने **शरीर** के प्रति होती है। चार्वाक दर्शन में इस प्रतीति के आधार पर मनुष्य के इस स्थूल शरीर को ही आत्मा मान लिया गया है। इन्द्रियों को आत्मा मानने वाले चार्वाकों का कहना है कि बिना इन्द्रियों के शरीर कुछ नहीं कर सकता तथा मैं काना हूँ, बहिरा हूँ—इस तरह की प्रतीति भी देखने को मिलती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये **इन्द्रियाँ** ही आत्मा हैं। प्राणों के अभाव में ये इन्द्रियाँ भी काम नहीं कर पाती और व्यक्ति को भूख-प्यास (मैं भूखा हूँ, प्यासा हूँ) की प्रतीति होती है। इससे यह ज्ञात होता है कि **प्राण** ही आत्मा है। बेहोशी की हालत में मन के सो जाने पर प्राण आदि की भी प्रतीति नहीं हो पाती और व्यक्ति में नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों की अनुभूति होती है। इसके आधार पर कुछ लोग **मन** को ही आत्मा मानते हैं। ये सारी दृष्टियाँ **चार्वाक** दर्शन का अनुवर्तन करती हैं।

विज्ञानवादी बौद्धों का कहना है कि बिना कर्ता के कारण (साधनों) में कार्य करने की सामर्थ्य नहीं रहती और हमें मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ—इस तरह की प्रतीति (अनुभव) होती है। इसके आधार पर वे बुद्धि (विज्ञान) को ही आत्मा मानते हैं।

प्रभाकर (गुरुमत) और **तार्किक** (न्यायशास्त्र) के मत में अज्ञान को ही आत्मा माना गया है। उनका कहना है कि बुद्धि आदि अब तक वर्णित समस्त पदार्थों का विलय अज्ञान में हो जाता है। मैं अज्ञ हूँ, अज्ञानी हूँ—इस तरह की प्रतीति भी हमें होती है। इसके आधार पर यह सिद्ध होता है कि अज्ञान ही आत्मा है। **भाट्ट मीमांसकों** (कुमारिल भट्ट) के मत में चैतन्य आत्मा की अज्ञानोपहितता मान्य है। उनका कहना है कि सुषुप्ति अवस्था में प्रकाश और अप्रकाश, ज्ञान और अज्ञान—दोनों की स्थिति न रहने से और इस अवस्था में मैं स्वयं अपने को नहीं जान पाता, इस तरह की प्रतीति के भी होने से अज्ञान से ढका हुआ चैतन्य ही आत्मा है।

शून्यवादी बौद्ध के मत में शून्य को ही आत्मा माना गया है। श्रुति का भी कहना है कि पुराने जमाने में सब कुछ असत् (शून्य) स्वरूप था। सुषुप्ति दशा में हमें किसी भी वस्तु का भान नहीं होता। इसी के कारण उस समय हमें अपनी

भी प्रतीति नहीं हो पाती। उठने पर हमें अपनी इस अभावात्मकता का परामर्श हो पाता है। उसके आधार पर आत्मा की शून्यरूपता का भान हमें होता है।

विभिन्न दर्शनों के अनुसार अब तक पुत्र से लेकर शून्य पर्यन्त तत्त्वों की आत्मस्वरूपता स्थापित की गई है। इसमें श्रुति, युक्ति और अनुभव को भी प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। परस्पर विपरीत पूर्व-पूर्व मत की अयुक्तता उत्तरोत्तर मतों के उपस्थापन से अपने आप सिद्ध हो जाती है। अब हमें केवल शून्यवादी के मत का खण्डन करना है।

वेदान्ती दृष्टि

प्रत्यगात्मा की सत्, चित्, आनन्द स्वरूपता का प्रतिपादन शतशः श्रुतियाँ करती हैं। ऊपर आत्मा के रूप में प्रदर्शित पुत्र से लेकर शून्य पर्यन्त सभी जड़ पदार्थों का भान चैतन्य के सहारे ही हो सकता है, अतः ये सब घट, पट आदि जड़ पदार्थों की तरह जड़ हैं। 'अहं ब्रह्म' इस वाक्य में प्रत्यगात्मा की अहं के रूप में प्रतीति होती है और पुत्र से लेकर शून्य पर्यन्त पदार्थों की प्रतीति **इदं** के रूप में। अतः स्पष्ट है कि इदं के रूप में भासित हो रहे समस्त पदार्थों को आत्मा नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत इन समस्त जड़ पदार्थों का प्रकाशक नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य स्वभाव प्रत्यक् चैतन्य ही आत्मवस्तु है। वेदान्त के विद्वानों का यही सत्य अनुभव है। इस आत्मवस्तु में पुत्र से लेकर शून्य पर्यन्त समस्त असत् पदार्थों को आरोपित कर लिया जाता है। इसे ही अध्यारोप कहते हैं, क्योंकि यहाँ वस्तु (प्रत्यगात्मा) में अवस्तु अर्थात् पुत्र से लेकर शून्य पर्यन्त समस्त जड़ पदार्थ आरोपित हैं।

अपवाद

वेदान्तशास्त्र का अधिकारी कौन है? इस विषय का निर्वचन करते समय **अध्यारोप** और **अपवाद न्याय** की चर्चा आई थी। अध्यारोप का स्वरूप यहाँ विस्तार से विवेचित हो चुका है। अब अपवाद का विवेचन किया जा रहा है। **अध्यारोप** में वस्तु (रज्जु) में अवस्तु (सर्प) की कल्पना होती है और **अपवाद** में इसका बाध। अन्धकार के कारण रज्जु में सर्प का भान होने लगता है और दीपक का प्रकाश होने पर यह सर्प नहीं, रज्जु है; इस वस्तु स्थिति का भान हो जाता है। इसी तरह अज्ञान के कारण हमें प्रत्यगात्मा के स्थान पर जड़ जगत् की प्रतीति होने लगती है और ज्ञान का आलोक फैल जाने पर सब कुछ बाधित हो जाता है तथा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-स्वभाव प्रत्यक् चैतन्य का स्वात्म स्वरूप आलोकित हो उठता है। वेदान्ती विवर्तवादी है। इसीलिये इनके मत में रज्जु में सर्प की तरह ब्रह्म में जड़ जगत् की प्रतीति होने लगती है। भ्रान्ति के

कारण ऐसा होता है। सांख्य दर्शन परिणामवादी अथ च सत्कार्यवादी है। इनके यहाँ सत्ख्याति मान्य है। यहीं इन दोनों दर्शनों का मूल अन्तर है।

अपवाद की प्रक्रिया इस तरह से चलती है—भोगायतन स्वरूप यह समस्त चतुर्विध (जरायुज आदि) स्थूल शरीर, अन्न-पान आदि इसके लिए समस्त उपभोग्य वस्तु इनके रहने लायक समस्त चतुर्दश भुवन और इन सबका आधार यह पूरा ब्रह्माण्ड—इन सबकी उत्पत्ति पंचीकृत महाभूतों से होती है। शब्द आदि विषयों के साथ पंचीकृत वे महाभूत और सूक्ष्म शरीर आदि का अपने कारण स्वरूप अपंचीकृत भूतों में समावेश हो जाता है। इसी तरह ये अपंचीकृत भूत अपने सत्त्व आदि गुणों के साथ विपरीत क्रम से अपने कारणभूत अज्ञानोपहित चैतन्य में लीन हो जाते हैं। यह अज्ञानोपहित चैतन्य ही ईश्वर आदि में और अन्ततः सब कुछ तुरीय ब्रह्म में सिमट जाता है। इसी विपरीत प्रक्रिया को अपवाद कहा जाता है। हम कह सकते हैं कि अध्यारोप के सहारे यह सारा जगत् ब्रह्म में भासित होने लगता है और अपवाद की प्रक्रिया से यह सब कुछ उसी में सिमट जाता है।

तत्त्वंपदार्थ-शोधन

अध्यारोप और अपवाद की इसी प्रक्रिया के सहारे हम तत् और त्वं पदार्थों का शोधन भी कर सकते हैं। जैसे कि अज्ञान, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर की समष्टि, इस समष्टि से उपहित सर्वज्ञता आदि से विभूषित **ईश्वर,** सूत्रात्मा एवं वैश्वानर नाम से जाना गया चैतन्य तथा इनसे अनुपहित चैतन्य—ये तीनों जब तपे हुए लौह पिण्ड की भाँति अभिन्न रूप से एकाकार प्रतीत होने लगते हैं, तो यही स्थिति **तत्** पद की वाच्यार्थ कहलाती है। इन उपाधियों और इनसे उपहित चैतन्य का आधार भूत जो अनुपहित चैतन्य है, वह **तत्** पद का लक्ष्यार्थ माना गया है।

इसी पद्धति से अज्ञान, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर की व्यष्टि, इस व्यष्टि से उपहित अल्पज्ञता आदि से संयुक्त **प्राज्ञ, तैजस** तथा **विश्व** नाम वाला चैतन्य तथा इनसे अनुपहित चैतन्य—इन तीनों जब तपे हुए लौह पिण्ड की भाँति अभिन्न रूप से एकाकार बन जाते हैं, तो यही स्थिति **त्वम्** पद का वाच्यार्थ है और इन उपाधियों तथा इन उपाधियों से विशिष्ट चैतन्य का आधारभूत जो अनुपहित सर्वाधिक आन्तर तत्त्व आनन्दस्वरूप तुरीय चैतन्य है, वह **त्वम्** पद का लक्ष्यार्थ माना जाता है।

पंचकोश विवेचन

ऊपर (पृ० ६४-६५) चार ही कोश विवेचित है। आनन्दमय कोश की चर्चा वहाँ नहीं हो पाई। अब उसको भी समावेश कर उन सबका स्वरूप यहाँ

दिखाया जा रहा है—ऊपर के अनुच्छेद में तत्पदवाच्य **ईश्वर, सूत्रात्मा** और **वैश्वानर** नामक तीन रूपों और त्वं पदवाच्य **प्राज्ञ, तैजस** तथा **विश्व** नामक तीन रूपों की चर्चा हुई है। इनको समझ लेने की जरूरत है। पहले (पृ० ६३) अज्ञान का लक्षण बताया गया है। व्यष्टि और समष्टि के रूप में यह अज्ञान एक और अनेक प्रकार का हो जाता है। जैसे वृक्षों को समष्टि के रूप में देखने पर उनके लिए वन शब्द का प्रयोग होता है अथवा जैसे जल की समष्टि को जलाशय कहा जाता है, उसी तरह से नाना रूपों में प्रतिभासित हो रहे जीवगत अज्ञान की समष्टि को भी एक ही नाम देना उचित है। व्यष्टि की अपेक्षा यह उत्कृष्ट है एवं विशुद्ध सत्त्व की इसमें प्रधानता है, अतः इससे उपहित चैतन्य सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वनियन्तृत्व जैसे गुणों से सम्पन्न होने से अव्यक्त, अन्तर्यामी जगत् का कारण और **ईश्वर** के नाम से जाना जाता है, क्योंकि यह समस्त अज्ञान को प्रतिभासित करने में समर्थ है। ईश्वर की यह समष्टि समस्त जगत् का कारण होने से **कारण शरीर,** प्रचुर आनन्द से भरपूर होने से और कोश (म्यान) को छिपाकर रखने से **आनन्दमय कोश** कहलाता है। यहाँ आकर सब कुछ इसमें विलीन हो जाता है, अतः **सुषुप्ति** दशा, अत एव स्थूल-सूक्ष्म समस्त प्रपञ्च का **लय स्थान** भी कहलाता है।

इसी तरह से वन को व्यष्टि के रूप में देखने पर वृक्षों के समूह के रूप में वहाँ अनेकता का बोध होता है, अथवा जलाशय को व्यष्टि के रूप में देखने पर जैसे विशाल जल राशि के रूप में उसकी प्रतीति होती है, उसी तरह से प्रत्येक जीव में व्यष्टि के रूप में भासित हो रहे अज्ञान के नाना रूपों की प्रतीति होती है। रज और तम से मिश्रित सत्त्वकी प्रधानता के कारण इससे उपहित चैतन्य अल्पज्ञत्व, अनीश्वरत्व आदि गुणों से सम्पन्न **प्राज्ञ** कहलाता है, क्योंकि अभी इसमें प्रकाशकता विद्यमान है। इसकी यह उपाधि अहंकार आदि का कारण होने से **कारण शरीर**, प्रचुर आनन्द से संयुक्त होने से और कोश की तरह छिपाकर रखने में **आनन्दमय कोश** सबका विलय हो जाने से **सुषुप्ति** दशा तथा स्थूल-सूक्ष्म समस्त प्रपंच का यहाँ विलय हो जाने से **लयस्थान** भी कहलाता है।

अज्ञान के समान ही आवरण और विक्षेप नामक शक्तियों की तथा उनसे उत्पन्न हुए सूक्ष्म और स्थूल शरीरों की तथा विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोशों की चर्चा आ चुकी है (पृ० ८७-८८)। इनमें से समस्त सूक्ष्म शरीरों की समष्टि और व्यष्टि के रूप में ऊपर बताई गई पद्धति से जब हम व्याख्या करेंगे, तो समष्टि से उपहित चैतन्य **सूत्रात्मा,** हिरण्यगर्भ और प्राण कहलाता है; क्योंकि यह सर्वत्र अनुस्यूत है और ज्ञान-इच्छा-क्रिया नामक शक्तियों से सम्पन्न है। यह समष्टि स्थूल प्रपंच की अपेक्षा सूक्ष्म प्रपंच से सम्बद्ध

है, अतः इसे **सूक्ष्म शरीर** से **विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय** कोश से तथा **जाग्रदवस्था** की वासनाओं से यही **स्वप्नावस्था** से संयुक्त माना जाता है। यहाँ स्थूल प्रपंच का विलय माना गया है। इसी तरह से व्यष्टि से उपहित चैतन्य **तैजस** कहलाता है, क्योंकि यह तेजोमय अन्तःकरण से उपहित है। यह व्यष्टि भी स्थूल प्रपंच की अपेक्षा सूक्ष्म प्रपंच से सम्बद्ध होने से **सूक्ष्म शरीर** से **विज्ञानमय** आदि तीन **कोशों** से तथा जाग्रदवस्था वासना से भरी **स्वप्नावस्था** से संयुक्त है। यहाँ स्थूल प्रपञ्च विलीन हो जाता है।

ऊपर बताई गई पद्धति से जब हम चतुर्विध समस्त स्थूल शरीरों की समष्टि और व्यष्टि के रूप में व्याख्या करेंगे, तो समष्टि से उपहित चैतन्य **वैश्वानर** और विराट् के नाम से सम्बोधित होता है, क्योंकि यह समस्त प्राणियों का प्रतिनिधि होकर नाना रूपों में प्रकाशित होता है। यह समष्टि **स्थूल शरीर,** अन्न का विकार होने से **अन्नमय-कोश,** समस्त स्थूल भोगों का आयतन एवं जाग्रदवस्था से सम्पन्न माना जाता है। इसी तरह से व्यष्टि से उपहित चैतन्य **विश्व** कहलाता है, क्योंकि यह सूक्ष्म शरीर के अभिमान को बिना छोड़े **स्थूल शरीर** में प्रविष्ट हो गया है। इसके अन्न का विकार होने से **अन्नमयकोश** से यह सम्पन्न है और **जाग्रदवस्था** में प्रतिष्ठित है।

अपवाद-न्याय से सृष्टि का बाध

यहाँ आ कर अज्ञान शक्ति एवं आवरण और विक्षेप शक्ति का व्यापार पूरा हो जाता है, साथ ही अध्यारोप की प्रक्रिया भी। अपवाद की प्रक्रिया से इस सारी सृष्टि का विलोम क्रम से अनुपहित चैतन्य स्वरूप तुरीय ब्रह्म में विलय करना पड़ता है। अपवाद न्याय का विवेचन करते समय ऊपर (पृ० ६७-६८) इसकी प्रक्रिया को भी दिखाया जा चुका है।

बहुत संक्षेप में इस प्रक्रिया को हम इस तरह से समझ सकते हैं—सृष्टि प्रक्रिया के विपरीत क्रम (व्युत्क्रम) से सर्व प्रथम समस्त स्थूल शरीरों एवं स्थूल जगत् के व्यष्टि और समष्टि के रूप में अभिमानी चैतन्य विश्व और वैश्वानर का अन्नमय कोश और जाग्रदवस्था के साथ बाध हो जाता है। तदुपरान्त समस्त सूक्ष्म शरीर एवं सूक्ष्म जगत् के व्यष्टि और समष्टि के अभिमानी चैतन्य तैजस और सूत्रात्मा का विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय कोशों एवं स्वप्नावस्था के साथ बाध हो जाता है और अन्ततः कारण शरीरगत अज्ञान की व्यष्टि और समष्टि के रूप में भासित हो रहे प्राज्ञ और ईश्वर नामक चैतन्य का आनन्दमय कोश और सुषुप्त्यवस्था का बाध हो जाता है। इसके साथ ही अपवाद की यह प्रक्रिया पूरी हो जाती है और इसी के साथ सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो उठता है।

महावाक्यार्थ विचार

वेदान्त शास्त्र में चारों वेदों से एक-एक वाक्य को लेकर उनको महावाक्य कहा गया है। इनके अर्थों पर विचार करते-करते मुमुक्षु को ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो उठता है। वे वाक्य इस प्रकार हैं—प्रज्ञानं ब्रह्म (ऋ०), अहं ब्रह्मास्मि (य०), तत्त्वमसि (सा०) और अयमात्मा ब्रह्म (अ०)। यहाँ केवल 'तत्त्वमसि' वाक्य का विशेष रूप से और 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभव का सामान्य रूप से विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

तीन सम्बन्धों की सहायता से प्रथमतः यहाँ 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य की अखण्डार्थ (ब्रह्म) बोधकता को स्पष्ट किया गया है। ये तीन सम्बन्ध हैं—१. दो पदों का सामानाधिकरण्य, २. दो पदार्थों का विशेष्य-विशेषणभाव और ३. प्रत्यगात्मा के साथ इनका लक्ष्य-लक्षणभाव।

प्रथम सामानाधिकारण्य सम्बन्ध को 'सोऽयं देवदत्तः' इस उदाहरण से समझा जा सकता है। इस वाक्य में तत्काल (भूतकाल) विशिष्ट देवदत्त का वाचक **सः** शब्द है और एतत्काल (वर्तमान) विशिष्ट देवदत्त का वाचक **अयं** शब्द। इन दोनों पदों का सामानाधिकरण्य देवदत्त नामक व्यक्ति में है। इसी तरह से 'तत् त्वमसि' इस वाक्य में भी परोक्ष रूप से भासित हो रहे शुद्ध चैतन्य के वाचक **तत्** पद का और अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) रूप से प्रतीत हो रहे जीव चैतन्य के वाचक **त्वम्** पद का सामानाधिकरण्य शिष्य के देह में है। गुरु के इस उपदेश से शिष्य को यह भान हो जाता है कि उस परोक्ष ब्रह्मतत्त्व से मेरी स्थिति अभिन्न है, अर्थात् वह ब्रह्मतत्त्व मैं ही हूँ।

इसी उदाहरण से विशेष्य-विशेषण भाव को भी समझ सकते हैं। **सः** शब्द के अर्थ तत्काल विशिष्ट देवदत्त के और **अयं** शब्द के अर्थ एतत्काल विशिष्ट देवदत्त के परस्पर के भेद को मिटा देने के लिए इन दोनों पदों के अर्थों का सम्बन्ध विशेष्य-विशेषण भाव के रूप में किया जाता है, उसी तरह से 'तत् त्वमसि' इस वाक्य में परोक्ष रूप से भासित हो रहे शुद्ध चैतन्य के वाचक **तत्** पद के अर्थ की ओर अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) रूप से प्रतीत हो रहे जीव चैतन्य के वाचक **त्वम्** पद के अर्थ की परस्पर के भेदों की निवृत्ति विशेष्य-विशेषण के रूप में इनको संयोजित करने पर हो जाती है।

इसी उदाहरण से तीसरे लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध को भी समझ लेना चाहिए। **सः** शब्द और **अयं** शब्द की अथवा इनके अर्थों की परस्पर विरुद्ध तत्काल (भूत) और एतत्काल (वर्तमान) में स्थिति रहती है। इन परस्पर विरोधी कालों का परित्याग, इन दोनों ही कालों में विद्यमान देवदत्त के साथ लक्ष्य-लक्षणभाव सम्बन्ध जोड़ा जाता है, उसी तरह से प्रस्तुत वाक्य में भी **तत्** और **त्वं** पदों की

अथवा इनके अर्थों की परोक्ष एवं अपरोक्ष के रूप में जो परस्पर भेदकता है, उसको हटाकर अविरुद्ध चैतन्य की जो प्रतीति होती है, वह लक्ष्य-लक्षणभाव नामक सम्बन्ध के कारण होती है। इसी को **भागलक्षणा** भी कहते हैं।

त्रिविध लक्षणा

१. जहल्लक्षणा, २. अजहल्लक्षणा और ३. जहदजहल्लक्षणा के भेद से त्रिविध लक्षणा के स्वरूप पर अभी आगे विचार किया जा रहा है। तीसरी जहदजहल्लक्षणा को ही यहाँ भागलक्षणा के नाम से प्रस्तुत किया गया है। आगे इन तीनों लक्षणाओं के स्वरूप को बताकर यह कहा जा रहा है कि भागलक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) से ही 'सोऽयं देवदत्तः' की तरह 'तत् त्वमसि' वाक्य का अर्थबोध हो सकता है।

'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में **जहल्लक्षणा** की सहायता से अर्थ का बोध होता है। गंगा और घोष का आधाराधेय भाव सम्बन्ध नहीं बन सकता, क्योंकि गंगा की धारा में घोष (अहीरों की बस्ती) का होना असम्भव है। अतः यहाँ गंगा तट के वास्तविक अर्थ को छोड़कर उसके स्थान पर गंगा के तट का ग्रहण करना पड़ता है। इसी को जहल्लक्षणा कहते हैं। 'तत् त्वमसि' इस वाक्य में ऐसा नहीं है, क्योंकि परोक्षत्व (तत्) और अपरोक्षत्व (त्वम्) विशिष्ट चैतन्य एक ही है। इस वाक्य का एक अंश ही विरुद्ध है, पूरा वाक्य नहीं। यहाँ हमें पूरे वाक्यार्थ को बदलना नहीं पड़ता, अतः इस वाक्य में जहल्लक्षणा नहीं बन सकती।

यहाँ यह शंका उठ सकती है कि जैसे गंगा पद अपने वाच्य अर्थ (गंगा-प्रवाह) का परित्याग कर लक्षणा वृत्ति की सहायता से गंगातट का बोध कराता है, उसी तरह से तत् अथवा त्वं पद, स्वार्थ को छोड़कर त्वम् अथवा तत् पदार्थ को लक्षित करेगा, अतः दोनों पदों के अपने-अपने अर्थ का त्याग कर देने से यहाँ भी जहल्लक्षणा बन सकती है, किन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य में तीर पद की स्थिति है नहीं, अतः लक्षणा से उसका बोध कराया जाता है। इसके विपरीत तत् और त्वं दोनों पदों की स्थिति वाक्य में विद्यमान है और इनके अपने-अपने अर्थों की भी प्रतीति हो रही है, उनका बोध नहीं हो रहा। तब एक पद से अन्य पद के अर्थबोध की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

'तत् त्वमसि' यहाँ 'शोणो धावति' की तरह **अजहल्लक्षणा** भी नहीं बन पाती। शोण (लाल रंग) दौड़ नहीं सकता, अतः इसकी लाल रंग के घोड़े में लक्षणा करनी पड़ती है। यहाँ शोण पद के अर्थ को बिना छोड़े इस लक्षणा के सहारे धावन में समर्थ लाल रंग के घोड़े का बोध कराया जाता है। 'तत् त्वमसि' इस वाक्य में तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि परोक्षत्व और अपरोक्षत्व से विशिष्ट

चैतन्य की एकता परस्पर विरुद्ध है। इनका त्याग किए बिना किसी अन्य अर्थ का लक्षणा से बोध कराने पर उस विरोध का परिहार हो नहीं सकता, अतः इस वाक्य में अजहल्लक्षणा अर्थ बोध में कोई सहायता नहीं कर सकती।

यदि कोई यह समाधान प्रस्तुत करे कि तत्-पद या त्वं-पद अपने वास्तविक (शक्य) अर्थ का परित्याग कर त्वं-पद या तत्पद के लक्ष्यार्थ का बोध करा सकेगा। इस स्थिति में भागलक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी। तो यह उचित समाधान नहीं है, क्योंकि कोई पद स्वार्थांश और पदार्थान्तर दोनों में लक्षणा वृत्ति की सहायता से अर्थ का बोध करावे, यह संभव नहीं है। फिर एक पद (तत्) के अर्थ का बोध पदान्तर (त्वम्) से हो जाने पर लक्षणा वृत्ति की प्रवृत्ति ही कैसे होगी।

अतः हमें 'तत् त्वमसि' इस वाक्य में 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य के समान **जहदजहल्लक्षणा (भागलक्षणा)** का ही सहारा लेना पड़ेगा। तत्काल और एतत्काल से विशिष्ट देवदत्त की स्थिति एक साथ नहीं बन सकती, अतः यहाँ तत्काल और एतत्काल के रूप में प्रतीत हो रहे विरोधी अंशों का परित्याग कर केवल देवदत्त का बोध लक्षणा के सहारे कराया जाता है, उसी तरह से 'तत् त्वमसि' इस वाक्य में भी तत्काल (परोक्ष) और एतत्काल (अपरोक्ष) से विशिष्ट चैतन्य की एक साथ प्रतीति नहीं हो सकती, अतः यहाँ भी परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व नामक परस्पर विरोधी अंशों का परित्याग कर परस्पर अविरोधी सर्वत्र सदा विद्यमान एक अखण्ड चैतन्य स्वरूप का लक्षणा से बोध होता है। यहाँ परस्पर विरोधी अंशों का त्याग और अविरोधी अंश का परिग्रह होने से इसका नाम जहत्-अजहत् लक्षणा पड़ा है।

इसी पद्धति से 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभव वाक्य की भी संगति बैठाई जाती है। अध्यारोप और अपवाद की ऊपर बताई गई पद्धति के आधार पर आचार्य शिष्य के सामने जब 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थों का शोधन कर इस वाक्य के सहारे अखण्ड चैतन्य स्वरूप का बोध करा देता है, तो अधिकारी पुरुष के चित्त में मैं ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य स्वभाव वाला, परमानन्द से परिपूर्ण, अनन्त-अद्वय ब्रह्म हूँ, इस तरह की वृत्ति (विचार) का उदय होता है। यह वृत्ति चिति के प्रतिबिम्ब के साथ प्रत्यगात्म स्वरूप से अभिन्न होते हुए भी अब तक अज्ञात परं ब्रह्म को अपना विषय बना कर अब तक विद्यमान अज्ञान को बाधित कर देती है। तब जैसे पट के कारणभूत तन्तुओं के जल जाने पर पट भी जल उठता है, उसी तरह से इस समस्त प्रपंच के मूल कारण अज्ञान का बोध हो जाने पर इस अज्ञान के कार्य इस समस्त प्रपंचात्मक जगत् का बाध होने के साथ इस

प्रपंच में ही वर्तमान अखण्ड आकार वाली चित्तवृत्ति का भी बाध हो जाता है। जैसे दीपक की प्रभा सूर्य के प्रकाश को रोकने में असमर्थ होकर स्वयं सूर्य के प्रकाश में डूब जाती है, उसी तरह से चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य भी स्वयं प्रकाशमान, प्रत्यगात्मा से अभिन्न परब्रह्म को प्रकाशित करने में असमर्थ होकर स्वयं ही उसमें डूब जाता है। इस स्थिति में उस औपाधिक अखण्ड चित्तवृत्ति का भी बाध हो जाने से प्रत्यगात्मा से अभिन्न परब्रह्म स्वरूप ही मात्र बचा रह जाता है, जैसे कि दर्पण के अभाव में मुख के प्रतिबिम्ब की कोई स्थिति न रह कर केवल मुख की प्रतीति मात्र बची रहती है।

ब्रह्म-साक्षात्कार के उपाय

जब तक मुमुक्षु को इस तरह के अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक उसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं समाधि के अभ्यास की आवश्यकता रहती है। इसलिए अब इनका स्वरूप बताया जा रहा है।

छः प्रकार के १. उपक्रमोपसंहार, २. अभ्यास, ३. अपूर्वता, ४. फल, ५. अर्थवाद और ६. उपपत्ति नामक लिंगों की सहायता से समस्त वेदान्तशास्त्र का अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप को समझने में ही तात्पर्य है, इस विषय का अवधारण कहना **श्रवण** कहलाता है।

षड्विध लिंग

प्रकरण में प्रतिपाद्य अर्थ का उसके आरम्भ और अन्त में उपपादन करना **उपक्रमोपसंहार** कहलाता है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु अद्वितीय ब्रह्म है। यहाँ प्रारम्भ में 'एकमेवाद्वितीयम्' इस तरह के वाक्य से और अन्त में 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' वाक्य से उसका प्रतिपादन किया गया है।

प्रकरण में प्रतिपाद्य विषय का उसके मध्य भाग में बार बार दुहराया जाना **अभ्यास** कहलाता है। जैसे वहीं अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का 'तत्त्वमसि' वाक्य की नौ बार आवृत्ति का प्रतिपादन किया गया है।

प्रकरण में प्रतिपाद्य विषय का अन्यत्र प्रतिपादन नहीं हुआ है, इसको दिखाना **अपूर्वता** कहलाता है। जैसे वहीं यह दिखाया गया है कि इस अद्वितीय ब्रह्म का अन्यत्र प्रतिपादन नहीं हुआ है।

प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय आत्मज्ञान या तदर्थ अनुष्ठान है, इसका प्रयोजन क्या है? इसे दिखलाना ही **फल** कहलाता है। जैसे वहीं 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि वाक्य में आत्मज्ञान का प्रयोजन अद्वितीय ब्रह्म की प्राप्ति बतलाया गया है।

प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय अद्वितीय वस्तु की बार-बार प्रशंसा करना **अर्थवाद** कहलाता है। जैसे वहीं 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' इस तरह से बार-बार अद्वितीय ब्रह्म के ज्ञान की प्रशंसा की जाती है।

षड्विध लिंग का अन्तिम लिंग युक्तियों की सहायता से उसका उपपादन करना है। इसको **उपपत्ति** कहा गया है। जैसे वहीं "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञानं स्यात्" इत्यादि वाक्य के द्वारा एक अद्वितीय वस्तु के लाभ से समस्त वाक् प्रपंच के ज्ञान की बात का युक्ति के सहारे उपपत्ति की गई है।

इन षड्विध लिंगों की सहायता से कोई भी व्यक्ति अपने प्रतिपाद्य विषय को सुदृढ़ आधार दे सकता है।

मनन आदि

श्रवण की पद्धति से अद्वितीय ब्रह्म में समस्त वेदान्तशास्त्र का तात्पर्य समझ लेने के बाद मुमुक्षु **मनन** का सहारा लेता है। यहाँ श्रुतियों के द्वारा परिज्ञात अद्वितीय ब्रह्मात्मक वस्तु का वेदान्त शास्त्र का अनुकूल युक्तियों के सहारे निरन्तर अनुसन्धान करते रहना पड़ता है। विजातीय (चेतना रहित) देह, इन्द्रिय, प्राण आदि से विलक्षण अद्वितीय वस्तु में सजातीय (एक सरीखे) चेतना के प्रवाह की निरन्तर अनुभूति ही **निदिध्यासन** कहलाती है।

द्विविध समाधि

सविकल्पक और निर्विकल्पक के भेद से **समाधि** दो प्रकार की है। ज्ञाता, ज्ञान आदि विकल्पों के लय की अपेक्षा के बिना ही अद्वितीय ज्ञेय वस्तु के साकार स्वरूप में चित्तवृत्ति का निरन्तर प्रवाहित होना **सविकल्पक** समाधि कहलाती है। उस समय मिट्टी के बने हाथी के साथ जैसे मिट्टी का भी बोध होता है, उसी तरह द्वैत (ज्ञाता, ज्ञान आदि) का भान होने पर भी अद्वैत वस्तु की प्रतीति भी होने लगती है। यह चैतन्य सबका साक्षी है, आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त है, माया से अतीत है, योग्य अधिकारी के चित्त में इसका स्वरूप बिजली के समान एकाएक भासित हो उठता है, यह जन्म-मृत्यु से रहित है, एक और अविनाशी तत्त्व है, अविद्या आदि दोषों से रहित है। सर्वगत होते हुए भी अद्वितीय है। सतत विमुक्त उस ब्रह्म स्वरूप से मैं अभिन्न हूँ। श्लोक इस प्रकार है—

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम्॥

निर्विकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान आदि विकल्पों का लय हो जाने से केवल अद्वितीय ज्ञेय स्वरूप वस्तु में उसी का स्वरूप धारण कर चित्तवृत्ति पूरी तरह से उसी में लीन हो जाती है। जैसे जल में मिलाये गये नमक की अलग से

कोई प्रतीति नहीं होती, केवल जल का ही भान होता है, उसी तरह से अद्वितीय वस्तु के स्वरूप में विलीन चित्तवृत्ति में अन्य किसी का भी भान बचा नहीं रहता, सब कुछ उसी में विलीन हो जाता है।

उस स्थिति में निर्विकल्पक समाधि और सुषुप्ति दशा में अभेद की आशंका उठ सकती है, किन्तु ऐसा नहीं, क्योंकि दोनों ही स्थितियों में वृत्तियों का भान न होने पर भी सुषुप्ति दशा में वृत्तियाँ पूरी तरह से शान्त हो जाती हैं, जबकि समाधि दशा में ऐसा नहीं है, क्योंकि समाधि में चित्त की वृत्तियाँ सक्रिय रहती हैं, केवल निगृहीत हो जाने से उनका भान नहीं हो पाता।

निर्विकल्पक समाधि के अंग

इस निर्विकल्पक समाधि के आठ अंग हैं। उनके नाम ये हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान और समाधि (सविकल्प)। यहाँ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच **यम** हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान—ये पाँच **नियम** हैं। हाथ-पैर आदि अंगों को विशेष स्थिति में रखना **आसन** कहलाता है। पद्म, स्वस्तिक आदि के रूप में इसके अनेक भेद हैं। रेचक, पूरक, कुंभक के रूप में प्राणों का निग्रह करना **प्राणायाम** कहलाता है। बाह्य इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर भीतर स्थापित करना **प्रत्याहार** है। अद्वितीय वस्तु में अपने अन्तःकरण को स्थापित करना **धारणा** कहलाती है। बार-बार विच्छिन्न होने वाली चित्तवृत्ति को रोक कर उसी अद्वितीय वस्तु में निरन्तर लगाये रखना **ध्यान** है। सविकल्पक समाधि को ही यहाँ **समाधि** कहा गया है, क्योंकि इस समाधि के माध्यम से ही निर्विकल्पक योग की प्राप्ति होती है। इस तरह से निर्विकल्पक समाधि ही अंगी है, मुख्य योग है और बाकी के आठ उसके अंग हैं।

समाधि के चार विघ्न

इस अंगी निर्विकल्पक समाधि (योग) का अभ्यास करते समय लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद नामक चार प्रकार के विघ्न योगी के सामने उपस्थित होते हैं। अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का आलम्बन कर समाधि में लगे योगी का पहला विघ्न **लय** है। इस स्थिति में योगी का चित्त समाधि दशा में न जाकर सुषुप्ति में चला जाता है। योग का दूसरा विघ्न **विक्षेप** है। यहाँ योगी की चित्तवृत्ति अखण्ड वस्तु के स्थान पर किसी अन्य वस्तु को अपना आलम्बन बना लेती है। लय और विक्षेप की स्थिति के न रहने पर भी योगी की चित्तवृत्ति राग आदि की वासनाओं से जब स्तब्ध (जड़) हो जाती है, तो वह अखण्ड वस्तु का सहारा नहीं ले पाती। यह **कषाय** नाम का विघ्न है। अन्तिम विघ्न **रसास्वाद** है।

इस स्थिति में योगी अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का सहारा न लेकर अपनी चित्तवृत्ति को सविकल्प समाधि में प्राप्त होने वाली आनन्दानुभूति में लगा देता है। इन **चतुर्विध** विघ्नों से मुक्त चित्त ही, पवन से रहित स्थान में रखे दीपक के समान निश्चल होकर अखण्ड चैतन्य स्वरूप बन जाता है। यही स्थिति निर्विकल्पक समाधि कहलाती है।

विघ्न-शमन

इन चारों विघ्नों के शमन के उपाय शास्त्रों में इस प्रकार बताये गये हैं— **लय** नामक विघ्न के उपस्थित होने पर योगी को अपने चित्त को सावधान रखना चाहिए। **विक्षिप्तावस्था** में उसे बार-बार समझाना चाहिए। राग आदि **कषायों** का आक्रमण होने पर इसे रोकने का प्रयत्न करना चाहिए और शान्त हो जाने पर उसे चलायमान नहीं करना चाहिए। इसी तरह से योगी को अपनी निरासक्त बुद्धि के सहारे **रसास्वाद** से भी बचना चाहिए। इन चारों विघ्नों से रहित चित्त की स्थिति के विषय में भगवद्गीता में भी बताया गया है कि इस स्थिति में पवन रहित स्थान में स्थित दीपक के समान योगी का चित्त सुशान्त, स्थिर हो जाता है।

जीवन्मुक्त योगी

यहाँ तक पहुँचा योगी जीवन्मुक्त कहलाता है। इस अवस्था में स्थित जीवन्मुक्त योगी अज्ञान को बाधित कर जब स्वात्मस्वरूप अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, तो उस स्थिति में अज्ञान के कार्य सूक्ष्म और स्थूल प्रपंच का, संक्षिप्त कर्मों का और संशय-विपर्यय आदि का भी बाध हो जाने से वह समस्त बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है। मुण्डक श्रुति में भी बताया गया है कि एक बार ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर इस ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त योगी के हृदय की अहंकार आदि के कारण पड़ी सारी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, सारे संशय मिट जाते हैं, समस्त संचित और क्रियमाण कर्मों का नाश हो जाता है।

यह जीवन्मुक्त समाधि की स्थिति से उठने पर मांस, रक्त, मूत्र, पुरीष आदि अपवित्र वस्तुओं से भरे हुए इस शरीर से, अन्धापन, मन्दता, अपटुता आदि से ग्रस्त इन्द्रियों से, भूख-प्यास, शोक-मोह आदि से भरे अन्तःकरण के कारण अपनी पूर्व-पूर्व वासनाओं के आधार पर नये-नये कर्म करता रहता है और पुराने कर्मों का फल भोगता रहता है। जानते हुए भी प्रारब्ध कर्मों के फलों का भोगता हुआ भी यह उनको रोक नहीं पाता। इस स्थिति में भी वह इनकी असारता को जानकर परमार्थतः इनकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता, अर्थात् इनके कारण कभी उद्विग्न नहीं होता। जैसे इन्द्रजाल (जादूगरी) को समझने वाला व्यक्ति

उसकी पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार नहीं करता, उसी तरह की स्थिति जीवन्मुक्त योगी की संसार के प्रति है। आँख, कान आदि इन्द्रियों के रहते हुए भी वह अन्धे और बहरे का सा व्यवहार करता है। शास्त्रों में बताया भी गया है कि यह जीवन्मुक्त योगी सुषुप्ति दशा के समान जाग्रत् अवस्था में भी कुछ देखता-सुनता नहीं। अद्वैत दृष्टि की प्रबलता के कारण यह द्वैत को देखता हुआ भी नहीं देखता। इसी तरह सब कुछ करता हुआ भी वह कुछ नहीं करता। ऐसा ही व्यक्ति आत्मज्ञ कहलाता है, अन्य कोई नहीं।

ब्रह्मज्ञान की पूर्णाभिव्यक्ति के पहले जीवन्मुक्त योगी में आहार, व्यवहार आदि की अनुवृत्ति उसी तरह से चलती रहती है, जैसी कि पहले चल रही थी। अब उसमें शुभ वासनाएँ ही बची रहती हैं, या फिर शुभ और अशुभ दोनों ही तरह के कर्मों के प्रति वह उदासीन हो जाता है। इस स्थिति में उस जीवन्मुक्त योगी में अमानित्व (निरभिमानिता), अद्वेष्टृत्व (किसी से द्वेष न करना) जैसे गुण अलंकार के समान इसकी शोभा को बढ़ाने लगते हैं।

मुक्तिलाभ

इस जीवन्मुक्ति स्थिति के लिए अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। यह जीवन्मुक्त योगी अपनी देहयात्रा का निर्वाह करने के लिए इच्छा, अनिच्छा अथवा दूसरे की इच्छा से प्राप्त कराए गए पदार्थों का उपभोग करता है। अपने प्रारब्ध कर्मों के कारण सुख-दुःख आदि का अनुभव करता रहता है। अन्तःकरण की विषयाकार वृत्तियों का साक्षी बना रहता है। प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति के उपरान्त प्रत्यगात्मानन्द स्वरूप ब्रह्म में प्राण के लीन हो जाने पर अज्ञान और उसके कारण भासित हो रहे समस्त प्रपंच का एवं समस्त संस्कारों का भी नाश हो जाने से एकमात्र आनन्द स्वरूप परम कैवल्य की स्थिति में वह जीवन्मुक्त प्रतिष्ठित हो जाता है, समस्त भेदों से शून्य, एक रस अखण्ड ब्रह्म स्वरूप में वह प्रविष्ट हो जाता है। उस जीवन्मुक्त योगी के प्राण कहीं उड़कर जाते नहीं हैं, यहीं अपने स्वरूप में विलीन हो जाते हैं, अविद्या के बन्धन से मुक्त हुआ यह जीवन्मुक्त योगी पूरी तरह से मुक्त हो जाता है।



जैन दर्शन

ऋषि-मुनि परम्परा

आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने ग्रन्थ बौद्धधर्म-दर्शन का आरम्भ भारतीय संस्कृति की दो धाराओं का परिचय देते हुए किया है। ब्राह्मण और श्रवण—ये दो संस्कृति-परम्पराएँ प्राचीन काल से चली आ रही हैं। ये दोनों एक दूसरे से प्रभावित हुई हैं। अपने लेखन में हमने 'श्रवण-ब्राह्मणम्' की चर्चा कर इसकी अन्ध-परम्परा की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। आजकल के हिन्दू-मुसलमान शब्दों की तरह 'श्रमण-ब्राह्मणम्' शब्द भी समाज में विघटनकारी रहा है। इसके स्थान पर हम ऋषि और मुनि शब्दों के माध्यम से इस विषय का विश्लेषण करना चाहते हैं। भारतीय संस्कृति की उदारवादी दृष्टि को समझने में इनकी सशक्त भूमिका है। ऋषि शब्द नैगमिक (वेद) और मुनि शब्द आगमिक दृष्टि का परिचायक है। **ऋषि** सपत्नीक आश्रम में रहता था। सामाजिक शिक्षा के साथ राजनीति को अनुशासित रखना भी उसका कार्य था। आचार्य जी ने लिखा है—"यह उपनिषत्काल था। इस काल में ब्रह्मविद्या की चर्चा बढ़ने लगीं। ऋषि आश्रमों में निवास करते थे और ब्रह्मचिन्तन में रत रहते थे। जिज्ञासु शिक्षा के लिए उनके पास जाते थे और जिनको वह पात्र समझते, उनको शिक्षा देते थे" (पृ० २)। **मुनि** वैराग्य-प्रधान जीवन जीता था। वह सदा दार्शनिक चिन्तन में लगा रहता था। ऋषि की ऐहिलौकिक दृष्टि प्रधान थी, जब कि मुनि प्रधान रूप से पारलौकिक जीवन जीता था। ऋषि संस्था वर्णाश्रम-प्रवण थी, जबकि मुनि संस्था इस तरह के बन्धनों से मुक्त। महावीर और बुद्ध के पूर्वकालीन साहित्य में उपलब्ध इनकी गतिविधियों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण अपेक्षित है और इस कार्य में उत्तरकाल में विकसित जैन और बौद्ध साहित्य भी हमारी सहायता कर सकता है।

पार्श्वनाथ और महावीर

जैन धर्म-दर्शन में २४ तीर्थंकरों की सत्ता मानी गई है। इनमें पहले ऋषभदेव और अन्तिम वर्धमान महावीर हैं। बौद्ध साहित्य में अजित-केश-कंबली, पूरण-कश्यप, मक्खलि-गोसाल, निगंठ-मातपुत्त जैसे बुद्ध समकालीन आचार्यों के नाम मिलते हैं। इनमें अन्तिम आचार्य २४वें तीर्थंकर महावीर से अभिन्न हैं। इनके विषय में ऐतिहासिकों का कहना है कि ये वैशाली (बिहार के मुजफ्फरपुर) जिले के बसाढ ग्राम में पार्श्वनाथ के ढाई सौ वर्ष बाद (६५६ वि०पू०) में पैदा हुए थे।

इनके पिता का नाम सिद्धार्थ तथा माता का त्रिशला था। अपने कुल के नाम पर ही पालि-ग्रन्थों में इन्हें नाथपुत्त के नाम से जाना जाता है। २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के विषय में बताया जाता है कि काशी नगरी में ८७४ वि०पू० (८१७ ईस्वी पूर्व) में इनका जन्म हुआ। सांख्याचार्य कपिल मुनि के साथ पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता पर भी विद्वानों ने प्रकाश डाला है। भगवान् पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह नामक चार महाव्रतों का विधान किया था। महावीर ने इनमें ब्रह्मचर्य का भी परिग्रह कर पाँच व्रतों की प्रतिष्ठा की। पातञ्जल योगसूत्र (१.३०)में यमों के रूप में इनका वर्णन मिलता है और अगले (१.३१) सूत्र में इनको सार्वभौम महाव्रत के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

पार्श्वनाथ वस्त्रधारण के पक्षपाती थे, लेकिन महावीर ने नितान्त वैराग्य की साधना के लिए मुनियों के लिए वस्त्र धारण का बहिष्कार कर नग्नत्व को ही आदर्श माना। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि दिगम्बर और श्वेताम्बर के रूप में जैन धर्म में द्विविध सम्प्रदाय की प्रवृत्ति बहुत पहले हो चुकी थी। इन दोनों सम्प्रदायों में अन्य विषयों में भी मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं। श्वेताम्बरों का कहना है कि महावीर का विवाह यशोदा देवी के साथ हुआ था। इन्होंने माता-पिता के न रहने पर अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन की अनुमति लेकर घर-बार से नाता तोड़ा। ३० वर्ष की अवस्था में इन्होंने यति धर्म ग्रहण किया। तेरह वर्ष तक लगातार कठोर तपस्या कर इन्होंने कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया। इन्होंने पाँच महाव्रतों की शिक्षा सबसे पहले अपने प्रथम शिष्य गौतम इन्द्रभूति को दी। बाद में इनका प्रधान स्थान मगध की तत्कालीन राजधानी राजगिरि बन गया। अर्धमागधी भाषा के माध्यम से अपने प्रभावशाली प्रवचनों के द्वारा इन्होंने जैन धर्म का प्रचार और विस्तार कर पावापुरी में ७२ वर्ष की आयु में बुद्ध के निर्वाण के पचास वर्ष पहले निर्वाण प्राप्त किया।

मौर्यवंश के संस्थापक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य जैन धर्म के अनुयायी थे, ऐसा माना जाता है। इन्होंने श्रवणवेलगोल (मैसूर) के पास तपस्या में निरत हो अपनी इहलीला समाप्त की। भद्रबाहु, संघभद्र आदि आचार्यों ने भी यहाँ कठिन तपस्या की थी। मगध के नन्दवंशी नरेश तथा कलिंग के अधिपति सम्राट् खारवेल भी जैन धर्म में दीक्षित हुए थे। ऐसा माना जाता है कि ईस्वी-पूर्व द्वितीय शतक से श्वेताम्बर तथा दिगम्बर इन दो सम्प्रदायों का जैन धर्म में उदय हुआ। इस विषय में इनके परस्पर-विरोधी मत देखने को मिलते हैं। दिगम्बरों एवं श्वेताम्बरों के आचार-विचार आदि के नियमों में कुछ अन्तर देखने को मिलता है। इस विषय का एक श्लोक सर्वदर्शन संग्रह (पृ० ३५) में प्रसिद्ध है—

भुङ्क्तेन न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह॥

अभिप्राय यह है कि दिगम्बरों के कथन के अनुसार केवली पुरुष भोजन नहीं करता और स्त्री को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। यही श्वेताम्बरों के साथ दिगम्बरों का महान् भेद है। स्पष्ट है कि श्वेताम्बर जैनों के मत में केवली भोजन करता है और स्त्री को भी मुक्ति का अधिकार है।

प्रधान साहित्य

बौद्ध धर्म के पालि भाषा में रचित विशाल त्रिपिटक साहित्य की तरह जैन धर्म का भी प्राकृत भाषा में रचित आगम-साहित्य उपलब्ध है। जैन सिद्धान्तों (आगमों) की संख्या ४५ है—जिनमें ११ अंग, १२ उपांग, १० प्रकीर्ण, ६ छेदसूत्र, ४ मूल ग्रन्थ तथा २ स्वतन्त्र ग्रन्थ (नन्दीसूत्र और अनुयोग द्वार) परिगणित हैं। इन सबका विस्तृत परिचय इतिहास-ग्रन्थों से प्राप्त किया जा सकता है। इन आगमों की रचना अर्धमागधी भाषा में की गई।

जैन दर्शन को सुव्यवस्थित करने का काम विक्रम की प्रथम शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। इस काल के तीन महान् आचार्यों को हम यहाँ प्रस्तुत करना चाहते हैं। ये हैं—उमास्वाति, कुन्दुकुन्दाचार्य और समन्तभद्र। उमास्वाति का तत्त्वार्थ-सूत्र सूत्रपद्धति पर लिखी गई अतिमहत्त्वपूर्ण रचना है। देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि व्याख्या के अतिरिक्त इस सूत्र-ग्रन्थ पर समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, सिद्धसेन गणि (गन्धहस्तिभाष्य), भट्ट अकलंक (राजवार्तिक), विद्यानन्द (श्लोक-वार्तिक) के महनीय एवं प्रामाणिक व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य द्रविड़ देश के प्रख्यात दिगम्बर आचार्य थे। इनके प्राकृत भाषा में लिखे अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनमें—१. नियमसार, २. कामसार, ३. समयसार और ४. प्रवचनसार, ये चार ग्रन्थ जैनागमों में अतिप्रामाणिक माने जाते हैं।

समन्तभद्र जैन दर्शन के सर्वमान्य आचार्य हैं। आप्तमीमांसा इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनका समय तृतीय-चतुर्थ शताब्दी माना जाता है। इनके ग्रन्थ पर भट्ट अकलंक की अष्टशती और विद्यानन्द की अष्टसाहस्री व्याख्या उपलब्ध है। इन महनीय आचार्यों की टीकाओं के कारण इनका और इनके ग्रन्थ का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

सिद्धसेन दिवाकर (पंचम शताब्दी), हरिभद्र सूरि (अष्टम शतक), भट्ट अकलंक (अष्टम शतक), विद्यानन्द (नवम शतक), वादिराज सूरी (नवम शतक), देवसूरि (१२वीं शताब्दी), हेमचन्द्र (१३वीं), मल्लिसेण सूरि (१३वीं), गुणरत्न (१५वीं) और यशोविजय (१७वीं) जैसे अनेक जैन आचार्यों (दिगम्बर एवं श्वेताम्बर) ने अपनी सारस्वत साधना से जैन दर्शन को अति समृद्ध बनाया है। इनके अतिरिक्त विशेषावश्यक भाष्य और जैन तर्कवार्तिक, मल्लिसेण की

स्याद्वादमञ्जरी, प्रभाचन्द्र का प्रमेय कमल मार्तण्ड और हेमचन्द के योगशास्त्र की भी अपने-अपने क्षेत्र में विशेष मान्यता है। यह एक ऐसा समय था, जब भारतीय न्याय शास्त्र और दर्शन के क्षेत्र में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति जैसी और भर्तृहरि, कुमारिल भट्ट जैसी महान् विभूतियों ने इस भारतीय धरा को सुशोभित किया। अपनी इस सारस्वत सेवा में जैन आचार्य भी अन्य आचार्यों से पीछे नहीं रहे हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर

आचार्य हरिभद्र सूरि के ग्रन्थ षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गुणरत्न सूरि ने इन दोनों मतों का परिचय इस तरह से दिया है। **श्वेताम्बर** मुनि के रजोहरण, मुख-पट्टी और बालों का लुंचन आदि लिंग (चिह्न) हैं। उनका वेश चोलपट्ट तथा कल्प (एक चादर) आदि होता है। ये पाँच प्रकार की समिति (देख भाल कर सावधानी के साथ प्रवृत्ति) तथा तीन गुप्ति (मन-वचन-काय की रक्षा) का आचरण करते हैं। ईर्या = चार हाथ आगे की भूमि को देखकर चलना, भाषा = हित-मित-प्रिय वचन बोलना, एषणा = शुद्ध अन्तराय आदि टालकर भोजन लेना, आदान-निक्षेप = देखभाल कर किसी भी वस्तु का लेना और रखना तथा उत्सर्ग = निर्जीव भूमि पर मलमूत्र आदि का त्याग करना—ये हैं पाँच समितियाँ। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायागुप्ति के त्रिषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि मुनि इन सबके ऊपर नियन्त्रण रखता है, इनको मनमाने तरीके से विचरण नहीं करने देता। इनके व्यापारों पर रोक लगाना ही गुप्ति है। गुरु निर्ग्रन्थ (ग्रन्थियों से मुक्त) होते हैं, जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय = आवश्यकता होने पर भी किसी वस्तु को बिना दिये न लेना, ब्रह्मचर्य तथा आकिंचन्य (अपरिग्रह) = मेरा कुछ भी नहीं है, इस प्रकार से किसी भी वस्तु में ममत्व बुद्धि न रखना—इन पाँच महाव्रतों का पालन करते हैं। क्रोध, मान, माया, छल-कपट, लोभ आदि अन्तरंग शत्रुओं को जीतते हैं, इन्द्रियों का दमन करते हैं, उनको विषयों की ओर नहीं जाने देते। जिस तरह भौंरा फूलों को हानि पहुँचाए बिना ही उनसे रस ले लेता है, उसी तरह साधु मधुकरी वृत्ति से गृहस्थों को कष्ट पहुँचाए बिना ही नित्य आहार ग्रहण करते हैं। शुद्ध संयम के पालन के लिए ही ये वस्त्र और पात्र धारण करते हैं। जब उन्हें कोई नमस्कार करता है, तब वे आशीर्वाद के रूप में **धर्मलाभ** शब्द कहते हैं।

दिगम्बर नग्न रहते हैं तथा अपने कर रूपी पात्र में ही आहार-पानी लेते हैं, खाने-पीने के लिए कोई पात्र नहीं रखते। दिगम्बरों के चार भेद हैं—काष्ठासंघ, मूलसंघ, माधुरसंघ और गोप्यसंघ। काष्ठासंघ में चमरी गाय के बालों की पिच्छिका (पीछी) रखी जाती है। मूलसंघ और गोप्यसंघ वाले मोर के पंखों की पीछी रखते हैं। माधुरसंघ में किसी भी प्रकार की पीछी नहीं रखी जाती।

काष्ठासंघ, मूलसंघ तथा माधुरसंघ के मुनि नमस्कार करने पर आशीर्वाद के रूप में **धर्मबुद्धि** शब्द कहते हैं। ये स्त्रियों की मुक्ति, केवलियों का कवलाहार तथा वस्त्रधारी सद्व्रती की भी मुक्ति नहीं मानते। गोप्यसंघ के मुनि नमस्कार करने वालों को **धर्मलाभ** शब्द कह कर आशीर्वाद देते हैं। गोप्यसंघ वाले गोपनीय भी कहे जाते हैं। ये सभी दिगम्बर मुनि भिक्षा के लिए जाते समय तथा भोजन करते समय बत्तीस अन्तराय और चौदह मल-दोषों को टालते हैं। इन थोड़े से मामूली मतभेदों के सिवाय इनके आचारों में गुरु और देवता के स्वरूप में कोई मतभेंद नहीं है। जिनेन्द्र इनको इष्ट देवता के रूप में मान्य हैं।

जिनेन्द्र का स्वरूप

जैनमत में राग-द्वेष आदि को जीतने वाले सामान्य केवली **जिन** कहलाते हैं। इन जिनों के इन्द्र अर्थात् स्वामी, तीर्थंकर जिनेन्द्र जैनमत में देवता के रूप में मान्य हैं। ये सामान्य केवलियों में नहीं पाये जाने वाले चौंतीस अतिशय रूप ऐश्वर्य के धारी होते हैं। ये समस्त कर्मों का क्षय कर परम पद को प्राप्त हुए हैं। माया और लोभ राग-रूप तथा क्रोध और मान द्वेष-रूप हैं। ये इनको जीत कर वीतराग बन जाते हैं। मोह रूपी महामल्ल को इन्होंने मार डाला है। इनका ज्ञान और दर्शन बिना इन्द्रियों के होता है। सुर, असुर और इन्द्र (मानव) आदि के द्वारा ये पूजित हैं। ये द्रव्य और पर्याय के रूप में विद्यमान समस्त सत् पदार्थों के उपदेष्टा हैं और अपने समस्त कर्मों का क्षय करके इन्होंने परम पद को प्राप्त कर लिया है। मोक्षपदवी में प्रविष्ट हो गये हैं। जिनेन्द्र का लक्षण गुणरत्न ने अति विस्तार से प्रस्तुत किया है। उसे वहीं (पृ० १६२-२१०) देखा जा सकता है। अर्हत् जिनेन्द्र का स्वरूप सर्वदर्शन संग्रह (पृ० २२-२५) में भी सयुक्तिक विवेचित है।

तत्त्व विवेचन

जैन दर्शन में प्रथमत: जीव और अजीव नामक दो तत्त्व माने गये हैं। इनमें बोध (ज्ञान = चैतन्य) जीव का और अबोध अजीव (स्थावर) का धर्म है। पद्मनन्दी ने चित् और अचित् के रूप में इनकी व्याख्या की है। इनमें चित् तत्त्व उपादेय है और अचित् हेय। उपादेय का उपादान और हेय का परित्याग करने के लिए साधक को विवेक बुद्धि की, बोध की आवश्यकता पड़ती है। व्यक्ति में प्रविष्ट राग आदि दोषों का कारण अविवेक है। अत: चिदात्मक ज्योति का उपयोग कर इस अविवेक का त्याग करना चाहिए।

अन्य आचार्य **जीव** और **अजीव** की भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। उनके मत में **जीव, आकाश, धर्म, अधर्म** और **पुद्गल** के भेद से पाँच तत्त्व हैं। इनमें जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त। एक जन्म से दूसरे जन्म को

ग्रहण करने वाले जीव संसारी कहलाते हैं। इनके भी समनस्क और अमनस्क के भेद से दो प्रकार होते हैं। संज्ञा से सम्पन्न जीव समनस्क कहलाते हैं। इनको काम करने, बातचीत करने आदि की जो शिक्षा दी जाती है, वह संज्ञा कहलाती है। जो ऐसी शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकते, वे जीव अमनस्क हैं। अमनस्क जीव भी त्रस और स्थावर के भेद से द्विविध हैं। इनमें दो इन्द्रिय वाले शंख, गंडोलक जैसे चार प्रकार के जीव त्रस कहलाते हैं। पृथिवी, जल,, तेज, वायु और वनस्पतियाँ स्थावर हैं। रास्ते पर पड़ी धूलि पृथिवी है। इष्टका (ईट) का शरीर इसी से बनता है। पृथिवी को जिसने आधार बनाया है, वह पृथिवी कायिक स्थावर है। इसी तरह से जो बाद में पृथिवी का आकार ग्रहण कर लेगा, वह पृथिवी कायिक जीव है। पृथिवी की ही भाँति जल, तेज, वायु में भी इन चारों भेदों की योजना कर लेनी चाहिए।

धर्म और **अधर्म** प्रसिद्ध हैं। प्रकाश से भरा हुआ आकाश लोकाकाश कहलाता है। इस लोकाकाश में धर्म और अधर्म की सर्वत्र स्थिति रहती है। गति और स्थिति की सहायता से धर्म और अधर्म का अनुमान होता है। इनमें धर्मास्ति काय का गति (प्रवृत्ति) से और अधर्मास्ति काय का स्थिति से अनुमान होता है। अन्य वस्तु के बीच में किसी अन्य वस्तु का प्रवेश हो जाय, तो उसे **अवगाह** कहते हैं। यह **आकाश** का कार्य है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से संयुक्त **पुद्गल** कहलाते हैं। अणु और स्कन्ध के भेद से **पुद्गल** दो प्रकार के हैं। अणुओं का उपभोग नहीं हो पाता। द्व्यणुक आदि स्कन्धों के भेद से अणु आदि की उत्पत्ति होती है और अणु आदि के संघात से द्व्यणुक आदि की। कभी-कभी भेद और संघात से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। इसीलिए शरीर आदि की क्षति को पूरा करने वाला द्रव्य पुद्गल कहलाता है। **काल** की कोई प्रादेशिक स्थिति नहीं है, इसका कोई आकार नहीं है, तो भी द्रव्यों में इसकी गणना होती है, क्योंकि द्रव्य का लक्षण इसमें विद्यमान है। तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—''गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'' (५.३८)। अन्य सूत्र (५.४९) में गुणों को निर्गुण अथ च द्रव्याश्रित माना गया है। जीव के ज्ञान आदि और पुद्गल के रूप आदि धर्म हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनमें यथासंभव गति, स्थिति, अवगाह और वर्तन (व्यवहार) की क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। ये इनके गुण हैं। भवन, उत्पाद, तद्भाव, परिणाम, पर्याय—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे जीव में घट आदि के ज्ञान की एवं सुख-दुःख आदि की अनुभूति होती है, उसी तरह पुद्गल से मृत्पिण्ड, घट आदि की तथा धर्म आदि में गति आदि विशेषताओं की स्थिति बनती है। इस तरह ऊपर निर्दिष्ट पाँच तत्त्वों के साथ काल की भी गणना करने पर तत्त्वों की संख्या छः हो जाती है।

अन्य आचार्य सात तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करते हैं। तत्त्वार्थसूत्र (१.४) में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नामक सात तत्त्व वर्णित हैं। इनमें से जीव और अजीव नामक दो तत्त्व विवेचित हो चुके हैं। अब तृतीय तत्त्व **आस्रव** का स्वरूप बताया जा रहा है। औदारिक आदि सप्तविध कायों की वर्गणा (प्रेरणा) से उत्पन्न हुई चलत्ता से आत्मा का प्रेरित होना ही योग अथवा **आस्रव** कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र (६.१-२) में कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों को ही योग माना गया है और यह योग ही आस्रव कहलाता है। जैसे पानी को बहा कर ले जाने वाला द्वार (नाली) जल के बहाव में सहायक होने से आस्रव कहलाता है, उसी तरह योग की पद्धति से कर्म को एक निश्चित पद्धति से प्रवाहित किया जाता है। यह योग ही आस्रव है। जैसे गीला कपड़ा चारों तरफ से हवा से उड़ा कर लाई गई रेणु (धूल) को आत्मसात् कर लेता है, उसी तरह कषायों से घिरा हुआ आत्मा योग की सहायता से सब तरफ से कर्मों को ग्रहण करता रहता है। अथवा लोहे के गरम गोले को पानी में डालने पर जैसे वह चारों तरफ से पानी को सोखता है, उसी तरह से कषायों से परितप्त जीव योग की सहायता से समस्त कर्मों का क्षय करने में समर्थ हो जाता है। बुरे कर्मों के लिए प्रेरित कर क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कर्म आत्मा को कुगति की ओर प्रेरित करते हैं, अत: इनको **कषाय** कहा जाता है। शुभ और अशुभ के भेद से ये दो प्रकार के हैं। इनमें अहिंसा आदि को शुभ काययोग, सत्य-परिमित-हित भाषण शुभ वाग्योग, अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु नामक पंचविध परमेष्ठियों की भक्ति, तप में रुचि, श्रुत और विनय—इन सबका समावेश मनोयोग में होता है। अशुभ त्रिविध योग हिंसा आदि से मलिन रहता है।

मिथ्यादर्शन, अवैराग्य, प्रमाद और क्रोध आदि कषायों के कारण तथा त्रिविध अशुभ योग के कारण आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म अनन्त प्रदेशों में विचरण करने वाले पुद्गलों के कारण बन्धन में डालने वाले नाना प्रकार के अशुभ कर्मों को ग्रहण कर लेता है, उनसे अपने का बाँध लेता है। इसी को **बन्ध** कहा जाता है। तत्त्वार्थ-सूत्र (८.२) में भी बताया गया है कि कषायों से घिरा हुआ जीव असत्कर्मों की वासना से भरे हुए पुद्‌गलों को ग्रहण कर लेता है, उसे ही बन्ध कहा जाता है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषायों के कारण ऐसा होता है।

आस्रव की ऊपर चर्चा आई है। इस आस्रव का निरोध ही **संवर** कहलाता है। इसकी सहायता से आत्मा में प्रवेश कर रहे कर्मों को रोक दिया जाता है। गुप्ति, समिति आदि की सहायता से यह कार्य होता है। काय-वाक्-चित्त की चंचलता के कारण चलायमान आत्मा की रक्षा **मुक्ति** कहलाती है। यह मुक्ति काय-वाक्-चित्त के निरोध के कारण त्रिविध मानी जाती है। **समिति** का तात्पर्य

है प्राणियों को बिना पीड़ा पहुँचाये समस्त लौकिक व्यवहार को चलाना। हित-मित भाषण आदि की भी इसमें उपयोगिता मानी गई है।

जैन दर्शन में आस्रव और संवर—ये ही दो मुख्य तत्त्व माने गये हैं। किसी प्रामाणिक आचार्य ने कहा है—

आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती सृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥

अर्थात् आस्रव संसार का और संवर मोक्ष का कारण है। आर्हत (जैन) दर्शन का यही सार है। बाकी सब इसका प्रपंच है।

उपार्जित सुख-दुःख आदि कर्मों का तप आदि की सहायता से जो क्षय कर दिया जाता है, उसे **निर्जरा** कहते हैं। चिरकाल से चले आ रहे कषायों के साथ पुण्य-पाप, सुख-दुःख आदि का नाश केश-लुंचन जैसे तप की सहायता से किया जाता है। यह निर्जरा दो प्रकार की है—यथाकाल और उपक्रमिक। पहली **यथाकाल** निर्जरा उचित समय पर जो कर्म जिस फल को देने में समर्थ हो, उसी समय उसके फल का उपभोग करा कर शान्त हो जाती है। यह निर्जरा कामादि-पाकजा कहलाती है। **उपक्रमिक** निर्जरा वह है, जो अपने तपोबल से अपनी मनोकामनाओं को पूरा करने के लिए जिसको जर्जर कर दिया जाता है। **निर्जरा** मानव आत्मा में विद्यमान संसार के बीज (कारण) स्वरूप कर्मों को क्षीण कर देती है। सकाम और अकाम के भेद से इसके दो प्रकार हैं। यतियों की निर्जरा सकाम होती है और अन्य संसारी जीवों की निर्जरा समय की प्रतीक्षा करती है।

मिथ्यादर्शन, अविरति आदि दोष **बन्ध** के कारण माने जाते हैं। इनका निरोध कर देने पर फिर नये कर्मों की सृष्टि नहीं होती और निर्जरा की सहायता से अब तक अर्जित कर्मों का जब नाश हो जाता है, तो उसी स्थिति को **मोक्ष** कहते हैं, क्योंकि इस स्थिति में सभी कर्मों का आत्यन्तिक नाश हो जाता है। मोक्ष के इसी स्वरूप का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र में भी किया गया है—"बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविमोक्षणं **मोक्षः**" (१०.२)। मिथ्यादर्शन आदि बन्ध के हेतु हैं। इनके न रहने पर और निर्जरी की सहायता से समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार यहाँ जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नामक सात तत्त्वों का विस्तार से परिचय दिया गया है। इनके साथ पुण्य और पाप का परिगणन कर षड्दर्शन समुच्चय के कर्ता आचार्य हरिभद्र ने नौ तत्त्व माने हैं—

जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमास्रवसंवरौ।
बन्धश्च निर्जरामोक्षौ नव तत्त्वानि तन्मते॥ ४७॥

इन सबका परिचय ऊपर दिया जा चुका है।

रत्नत्रय

मोक्ष का स्वरूप अभी बताया गया है। इसकी प्राप्ति के उपाय के रूप में जैन दर्शन में रत्नत्रय को प्रस्तुत किया गया है। महान् जैन दार्शनिक उमास्वामि ने अपने ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र का प्रारम्भ ही मोक्ष के लक्षण को प्रस्तुत करते हुए किया है—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:" (१.१)। जैन दर्शन में सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—मोक्ष के ये तीन उपाय रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऊपर बताए गए जीव, अजीव आदि नवविध तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को भली-भाँति देखना, उनके स्वरूप को श्रद्धापूर्वक समझना सम्यग् दर्शन कहलाता है। "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग् दर्शनम्" (१.२) इस सूत्र में यही बताया गया है। जिन द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों में सम्यक् श्रद्धा का जग उठना ही सम्यग् दर्शन है। यह स्वभावत: उत्पन्न हो जाती है अथवा गुरु के उपदेश से जगती है। पदार्थों को देख लेने के बाद जिस प्रकार से जीव आदि तत्त्व स्थित हैं, उनके सही स्वरूप को भली-भाँति जानना सम्यग् ज्ञान कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र (१.९) में ही **मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय** और **केवल** के भेद से ज्ञान के पाँच भेद बताए गए हैं। केवल ज्ञान तक पहुँचकर व्यक्ति सम्यग् ज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है। सम्यक् चारित्र का अर्थ है सम्यक् आचरण। संसरण में जन्म-मरण के चक्र में फँसा देने वाले कर्मों का नाश करने में लगा हुआ श्रद्धालु एवं ज्ञानी व्यक्ति पाप कर्म में प्रवृत्त कराने वाले कदाचारों का जो त्याग कर देता है, वही सम्यक् चारित्र कहलाता है। जैन दर्शन में दर्शन और ज्ञान के समान सम्यक् आचरण को भी समान स्थान दिया गया है। ये तीनों रत्न मिलकर ही मोक्ष की प्राप्ति के साधन बन पाते हैं, अलग अलग नहीं, जैसे कि रसायन। रसायन में अनेक औषधियाँ मिलकर रोग-निवृत्ति पूर्वक शरीर में बल का आघात करती हैं, वैसे ही ज्ञान, श्रद्धा और आचरण भी मिलकर मोक्ष रूपी फल को प्रदान करते हैं।

काय, वाक् और मन से योग का सम्यक् आचरण करने वाले व्यक्ति के द्वारा असत्कर्मों का जो त्याग किया जाता है, उसे ही चारित्र कहते हैं। अहिंसा आदि पाँच व्रतों के पालन के रूप में इनका आचरण किया जाता है। अहिंसा, सूनृत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये इनके नाम हैं। पातञ्जल योगशास्त्र में यम के नाम से ये वर्णित हैं। प्रमाद वश भी स्थावर अथवा जंगम प्राणियों के जीवन को हानि न पहुँचाना **अहिंसा** व्रत माना गया है। प्रिय, हितकर एवं सही बात का बोलना **सूनृत** व्रत कहलाता है। जो बात अप्रिय या अहितकर है, वह सही होते हुए भी सूनृत (सत्य) की कोटि में नहीं आती। बिना दिये दूसरे की वस्तु को न लेना **अस्तेय** व्रत कहलाता है। अर्थ मनुष्य का बाह्य प्राण है। इस अर्थ का हरण करने वाला एक प्रकार से उसके प्राण ही ले लेता है। कार्य की

निष्पत्ति तीन प्रकार से मानी गई है—स्वयं करना, दूसरे से करवाना और किसी के द्वारा किये हुए का अनुमोदन कर देना। दिव्य अथवा सामान्य उपभोगों का मन, वाणी और शरीर से त्याग कर देना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। कृत, कारित और अनुमोदित तथा मन, वचन और काय के भेद से पहले इनके नौ भेद और बाद में दिव्य और सामान्य के रूप में प्रत्येक के दो-दो भेद होने से ब्रह्मचर्य के अठारह भेद हो जाते हैं। सभी प्रकार के भावों के प्रति लगाव का न रखना ही अपरिग्रह कहलाता है। चारित्र-सम्पन्न साधक को इन पाँचों व्रतों का मनोयोग पूर्वक आचरण करना चाहिए। सम्यक् आचरण शील व्यक्ति को ये व्रत अव्यय पद प्रदान करते हैं। इस तरह से श्रद्धावान्, ज्ञान सम्पन्न और उज्ज्वल चरित्र वाला व्यक्ति अवश्य ही मोक्ष पदवी को प्राप्त कर लेता है।

प्रमाण

जैन दर्शन में दो ही प्रमाण मान्य हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। अक्ष शब्द की तीन तरह की व्युत्पत्ति के आधार पर उसके जीव, इन्द्रिय और ज्ञान अर्थ होते हैं। अश्नुते अथवा अक्ष्णोति दोनों धातुओं का अर्थ व्याप्ति है। समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों को व्याप्त करने वाला जीव अक्ष कहलाता है, विषय को व्याप्त करने वाली इन्द्रियाँ भी अक्ष कहलाती हैं। इसी तरह से ''अक्षमक्षं प्रति गतम्'' इस व्युत्पत्ति के आधार पर **प्रत्यक्ष** शब्द उस ज्ञान का सूचक है, जो इन्द्रियों की सहायता से व्यवहार का साधक है। **मति, श्रुत** आदि पंचविध ज्ञानों की अभी चर्चा की गई है। इनमें **अवधि, मन-पर्यय** और **केवल** नामक तीन ज्ञान और इन सबके भेद प्रत्यक्ष प्रमाण में ही समाविष्ट हैं। इसीलिए सांव्यवहारिक, पारमार्थिक, ऐन्द्रियिक, अतीन्द्रिय आदि ज्ञान भी अनुमान से अधिक विशेषताओं के प्रकाशक होने के कारण इन्हीं में समविष्ट होते हैं।

अक्षों (इन्द्रियों) से जो परे है, जो इनसे बाहर है अथवा श्रेष्ठ इन्द्रियों से जिसका ज्ञान होता है, वह **परोक्ष** कहलाता है। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इसी के भेद हैं। इसी तरह से मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान का भी समावेश परोक्ष ज्ञान में ही होगा। एवं च जैन मत में प्रत्यक्ष और परोक्ष ये ही दो ज्ञान हैं। इन्हीं में अन्य सभी प्रमाणों का समावेश माना जाता है।

इन प्रमाणों का विषय (प्रमेय) क्या है? इस प्रसंग में यहाँ बताया गया है कि अनन्त धर्मों से सम्पन्न वस्तुओं के तत्त्व (स्वभाव) को समझना ही प्रत्यक्ष और परोक्ष—इन दोनों प्रमाणों का विषय है।

इस प्रसंग में आत्मा की अनन्त धर्मात्मकता को हम देखें। यह आकार-निराकार, कर्तृत्व-भोक्तृत्व, अमूर्त्तता, असंख्यात प्रदेशात्मकता, जीवत्व आदि अनेक धर्मों के साथ दिखाई पड़ता है। हर्ष, विषाद, शोक, सुख-दुःख आदि भावों से यह

व्याप्त है, देवता, नारकी जीव, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि योनियों में जन्म लेता रहता है, मरता रहता है। मति आदि पंचविध ज्ञान से सम्पन्न दिखाई पड़ता है। अरूपित्व, एक द्रव्यत्व, निष्क्रियत्व जैसे धर्म भी उसमें देखे जा सकते हैं। इसी तरह से घट में भी आमत्व (कच्ची मिट्टी), पाकज रूपादिवत्त्व (पका घड़ा), आकार विशेषवत्त्व, जलादि के धारण करने और उसको अन्यत्र ले जाने का सामर्थ्य तथा मति आदि ज्ञान से इसकी ग्राह्यता जैसे अनेकों धर्मों की प्रतीति होती है।

इस पद्धति से सभी पदार्थों में नाना मतों (दर्शनों) और सिद्धान्तों के ज्ञाता पुरुष को नाना प्रकार के शब्दों और उनके अर्थों से परिचित होकर वाच्य पदों की शक्ति को और उनके उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, विवृत, संवृत, घोष, नाद, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण आदि के रूप में उच्चारण के आधार पर होने वाले अर्थों के परिवर्तनों को भली-भाँति समझ कर उनका उपयोग करता है।

इन सब विषयों का अपरोक्ष अर्थात् स्पष्ट रूप से भान कराने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रत्यक्ष से भिन्न अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष है। ज्ञान में परोक्षता बाह्य पदार्थ के ग्रहण की अपेक्षा से है, क्योंकि स्वरूप से तो सभी ज्ञान प्रत्यक्ष ही हैं। सत्स्वरूप ही हैं। यह सत् क्या है ? इसे आगे बतलाया जा रहा है।

सत् का लक्षण

''सद् द्रव्यलक्षणम्'' (५.२९) इस तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य का लक्षण बताया गया है कि जो सत् है, वह द्रव्य है। यह सत् क्या है ? इसका उत्तर अगले सूत्र में दिया गया है—''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'' (५.३०)। इसका अर्थ यह है कि जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों से युक्त है, अर्थात् जिसमें ये तीन रूप विद्यमान हैं, उसे सत् कहते हैं। द्रव्य दो हैं—चेतन और अचेतन। वे अपनी जाति को तो कभी नहीं छोड़ते, फिर भी उनमें अन्तरंग और बहिरंग निमित्तों के कारण प्रति समय जो नवीन अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे **उत्पाद** कहते हैं। जैसे मिट्टी का पिण्ड घट बन जाता है। इसी तरह से पूर्व अवस्था के त्याग को **व्यय** कहते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति होने पर मृत्पिण्ड का व्यय (त्याग) द्रव्य का एक अनादिकालीन स्वभाव है। उसका व्यय और उदय नहीं होता, किन्तु वह स्थिर बना रहता है, इसलिए उसे **ध्रुव** कहते हैं। ध्रुव का भाव या कर्म **ध्रौव्य** कहलाता है। जैसे मिट्टी के पिण्ड में और उसकी घट आदि अवस्थाओं में मिट्टी का अन्वय बना रहता है। इस प्रकार इन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से जो युक्त है, वह सत् है। मनुष्य की बाल्य, यौवन आदि अवस्थाओं का उत्पाद और व्यय होता है, शरीर के अवयवों में यह होता है, किन्तु साथ ही उनके साथ एक अवयवी भी जुड़ा हुआ है, जिसकी सत्ता मरण-पर्यन्त बनी रहती है, वह ध्रुव रहता है। प्रत्येक द्रव्य में इन तीनों की स्थिति के रहने से उसे **सत्** माना गया है। अनन्त धर्मों से संयुक्त

प्रत्येक वस्तु (द्रव्य) इसीलिए प्रमाण का विषय (प्रमेय) बनता है। इस प्रकार अति संक्षेप में जैन दर्शन की प्रमाण-प्रक्रिया पूरी होती है।

अनेकान्त वाद

जैनों के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनेकान्त है। किसी भी चीज को, बात को एकान्ततः सिद्ध नहीं किया जा सकता। कोई स्थिति चरम या निरपेक्ष नहीं है। सारे कथन कुछ विशिष्ट स्थितियों और सीमाओं के अधीन ही सत्य हैं। उदाहरणार्थ एक स्वर्णपात्र को लें। एक द्रव्य के रूप में इसकी सत्ता अणुओं के एक समूह के रूप में है। यह आकाश या अन्य किसी द्रव्य के समान नहीं है। अणुओं के समूह के द्रव्य में यह द्रव्य है और आकाश या काल के रूप में यह द्रव्य नहीं है। यह द्रव्य है भी और नहीं भी, एक ही समय में यह द्रव्य-अद्रव्य दोनों है। इन सब पर विचार करते हुए जैन दार्शनिक कहते हैं कि समस्त कथन सीमित अर्थों में ही सत्य है।

आत्मा और घट के दृष्टान्त से यह अभी बताया जा चुका है कि समस्त वस्तुएँ अनन्त-धर्मात्मक हैं, प्रत्येक धर्म को एक विशेष अर्थ में ही सत्य कहा जा सकता है। आत्मा और घट की ही तरह प्रत्येक पदार्थ में अनन्त धर्म रहते हैं, अतः अनन्त दृष्टिकोणों से उन्हें देखा जा सकता है। अपने रूप में वे सब सही हैं और इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ का कथन उस सीमा तक ही सत्य है, निरपेक्ष या अन्तिम रूप में वह कुछ भी नहीं है। हम दरिद्रता को धनाढ्यता नहीं कह सकते, पर निषेधात्मक सम्बन्ध से ऐसा कह भी सकते हैं। ''दरिद्र के पास धन नहीं है'' यहाँ अभाव सम्बन्ध से दरिद्र के पास भी धन है। इसी पद्धति से किसी न किसी सम्बन्ध से हर वस्तु से हर चीज बताई जा सकती है और उस वस्तु में वह चीज नहीं भी बताई जा सकती।

नय मीमांसा

इस प्रकार अनन्त-धर्मात्मक इन समस्त सांसारिक वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान उसी पुरुष को हो सकता है, जिसने केवल ज्ञान को प्राप्त कर लिया है। भ्रान्ति से भरे हुए मानवों में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वे प्रत्येक वस्तु के समस्त धर्मों का यथार्थ प्राप्त कर सकें। वह तो वस्तु के केवल एक धर्म को जान सकता है, अतः उसका ज्ञान सदा आंशिक हुआ करता है। जैन दर्शन वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म के ज्ञान को नय के नाम से पुकारता है। साधारणतः ज्ञान तीन प्रकार का होता है—दुर्णय, नय और प्रमाण। विद्यमान वस्तु को यदि हम सदा विद्यमान ही बतावें तो उसके अन्य प्रकारों का निषेध किए जाने के कारण यह ज्ञान **दुर्णय** (दुष्ट नय) कहलावेगा। अन्य प्रकारों का बिना निषेध किए वस्तु को सत् बतलाना

आंशिक ज्ञान होने के कारण **नय** कहलावेगा। प्रमाण इन दोनों से भिन्न प्रकार का है। विद्यमान वस्तु के विषय में 'सम्भवतः यह सत् है' यही ज्ञान वस्तु के ज्ञात तथा अज्ञात समस्त धर्मों का संग्राहक होने के कारण प्रमाण की कोटि में आता है।

नय सिद्धान्त जैन दर्शन का एक मुख्य विषय माना जाता है। किसी विषय का सापेक्ष निरूपण नयवाद के नाम से जाना जाता है। इस नयवाद का विवेचन तत्त्वार्थसूत्र जैसे जैन-ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ मिलता है। वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता के कारण उसकी प्रत्येक विशेषता का निरूपण करने से नयों की संख्या भी अनन्त हो सकती है। वस्तुओं के स्वरूप का निर्धारण करते समय हमारे सामने दो प्रकार रहते हैं—एक तो यह कि हम किसी वस्तु के विविध धर्मों और लक्षणों को जान कर उन्हें उस वस्तु में समन्वित रूप में देखें, जैसे कि हम जब एक पुस्तक के बारे में कहते हैं कि 'वह एक पुस्तक है', तो हम उसके लक्षणों को उससे अलग कर के नहीं देखते, अपितु उसके धर्मों और लक्षणों को अभिन्न रूप से देखते हैं। दूसरे यह कि हम केवल उस वस्तु के धर्मों को अलग से देखें और उस वस्तु को एक सत्ताहीन कल्पना मात्र समझें, जैसे कि एक पुस्तक के विभिन्न गुणों या धर्मों के बारे में ही हम कहें और मानें कि पुस्तक में केवल उसके गुणों या धर्मों का ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है, उनसे पृथक् पुस्तक का कोई अस्तित्व नहीं है। इन दोनों दृष्टिकोणों को क्रमशः **द्रव्य नय** और **पर्याय नय** कहा गया है। बाद में द्रव्यनय के तीन और पर्यायनय के चार भेद हो जाते हैं। द्रव्य नय के तीन भेद **नैगम नय, संग्रह नय** और **व्यवहार नय** कहलाते हैं। पर्याय नय के चार भेदों के नाम ये हैं—**ऋजुनय, शब्दनय, समधिरूढ नय** और **एवंभूत नय**।

द्रव्य नय के तीन प्रकारों में से वस्तुओं का अत्यन्त सामान्य, व्यावहारिक रूप में वर्णन करना, जैसा कि वे हमारे सामने आती है—**नैगम नय** कहलाता है। यह आनुभविक दृष्टिकोण शायद इस धारणा पर टिका है कि एक वस्तु में अत्यन्त सामान्य से लेकर अत्यन्त विशिष्ट धर्म भी रहते हैं। हम किसी एक समय में उनमें से किसी एक पर ध्यान देते हैं और बाकी सब को भूल जाते हैं। **संग्रह नय** का अर्थ है किसी वस्तु को अत्यन्त सामान्य दृष्टिकोण से देखना। जैसे हम सभी वस्तुओं को संक्षेप में प्रस्तुत कर सकते हैं। यह समस्त वस्तुओं का एक सामान्य, व्यापक लक्षण है। **व्यवहार नय** का दृष्टिकोण यह है कि किसी वस्तु का वास्तविक अर्थ उसके व्यावहारिक अनुभव के आधार पर लिया जाय। इसमें कुछ सामान्य और कुछ विशिष्ट धर्म समाविष्ट हो जायेंगे, जो भूतकाल से चले आ रहे हैं और भविष्य में भी रहेंगे। इनमें थोड़े-थोड़े सामान्य परिवर्तन हर क्षण होते रहते हैं, जो अनेकों दृष्टियों से हमारे अपने व्यावहारिक अनुभवों के कारण होते हैं।

पर्याय नय के चार प्रकारों में से **ऋजुनय** ही हमारे लिए उपयोगी है। यह बौद्धों वाला दृष्टिकोण है, जो किसी वस्तु की सत्ता भूत या भविष्य में मानता ही नहीं। इस दृष्टि के अनुसार एक वस्तु केवल विशिष्ट क्षण में विशिष्ट लक्षणों का एक संमन्वय है, जो क्षण विशिष्ट कार्य का उत्पादन करती है। प्रत्येक अगले क्षण में धर्मों या गुणों का नया समवाय पैदा होता है और हम उस वस्तु की वास्तविक सत्ता की धारणा केवल इसी को आधार मानकर बनाते हैं। पर्याय नय के अन्य तीन प्रकार व्याकरण एवं शब्दशास्त्र से सम्बद्ध हैं। उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

स्याद्वाद (सप्तभंगी नय)

स्याद्वाद को समझे बिना हम अनेकान्तवाद या नय सिद्धान्त को हृदयंगम नहीं कर सकते। सप्तभंगी नय के नाम से दार्शनिक जगत् का यह अतिप्रसिद्ध सिद्धान्त है। जैन शास्त्रों में निम्न सात वाक्यों में इसको प्रस्तुत किया गया है—

१. स्यादस्ति = शायद है।
२. स्यान्नास्ति = शायद नहीं है।
३. स्यादस्ति च नास्ति च = शायद है भी और नहीं भी।
४. स्यादवक्तव्यः = शायद वर्णनातीत है।
५. स्यादस्ति चावक्तव्यः = शायद है, तो भी वर्णनातीत है।
६. स्यान्नास्ति चावक्तव्यः = शायद नहीं है, तो भी वर्णनातीत है।
७. स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः = शायद होते हुए और न होते हुए भी वर्णनातीत है।

सर्वदर्शन संग्रह (पृ० ३३) में सप्तभङ्गीनय को इस प्रकार प्रस्तुत कर अनन्तवीर्य के श्लोकों को उद्धृत करते हुए इन वाक्यों का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है—किसी वस्तु का प्रतिपादन (विधान) करते समय **स्यादस्ति** वाक्य का प्रयोग होगा और निषेध करते समय **स्यान्नास्ति** का। क्रमशः दोनों स्थितियों को दिखाना हो, तो **स्यादस्ति च नास्ति च** इस तरह दोनों वाक्यों का प्रयोग करना होगा। इस तृतीय स्थिति के बाद चतुर्थ स्थिति का आना स्वाभाविक है कि शायद इस स्थिति का हम निर्वचन न कर सकें। जो वस्तु शायद है भी और नहीं भी है, उसका हम निर्वचन कैसे करेंगे, अतः उसे अवक्तव्य ही मानना पड़ेगा। स्यादक्ति की अवाच्यता मानने पर पंचम भंगी, स्यान्नस्ति की अवाच्यता मानने पर षष्ठ भंगी और समुच्चय की आवच्यता मानने पर सप्तम भंगी बनेगी। वहाँ के श्लोक इस प्रकार हैं—

तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत्।
स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते॥

क्रमेणोभयवाञ्छायां प्रयोगः समुदायभाक्।
युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः॥
आद्यावाच्यविवक्षायां पञ्चमो भङ्ग इष्यते।
अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठभङ्गसमुद्भवः॥
समुच्चयेन युक्तश्च सप्तमो भङ्ग उच्यते। (पृ० ३३)

स्यात् शब्द के विषय में यहाँ बताया गया है कि यह एक निपात है, जो तिडन्त पद का जैसा प्रतीत होता है। यह शब्द अनेकान्त अर्थ का द्योतक है। निम्न श्लोक में यही बात कही गई है—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तिडन्तप्रतिरूपकः॥ (पृ० ३३)

स्यात् पद को यदि एकान्त का द्योतक माना जायेगा, तो '**स्यादस्ति**' इस वाक्य के **स्यात्** पद का कोई प्रयोजन नहीं रह जायेगा। इस पद की अनेकान्तता मानने पर तो हम **स्यादस्ति** का अर्थ **कथञ्चिदस्ति** करेंगे। इस तरह से **स्यात्** पद की भी सार्थकता मानी जायेगी। वस्तु की इस अनेकात्मकता को देख कर ही जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद की स्थापना की है और द्रव्यनय एवं पर्यायनय के रूप में वस्तुओं के विभिन्न रूपों की व्याख्या भी प्रस्तुत हो सकी है।

भारतीय दर्शनों में द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत दृष्टि से तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है। उनमें द्वैताद्वैत दृष्टि अनेकान्तवाद से समरस है। आचार्य भास्कर द्वैताद्वैत वादी है। इनका ब्रह्मसूत्रभाष्य उपलब्ध है। भगवद्गीता भाष्य के भी कुछ अध्याय प्रकाशित हुए हैं और इन्हीं के ग्रन्थों से यह सूचना मिलती है कि इन्होंने छान्दोग्य उपनिषत् पर भी भाष्य लिखा था। ये ज्ञानकर्मसमुच्चय वादी हैं, जबकि आचार्य शंकर इसका खण्डन कर केवल ज्ञान को ही मुक्ति का कारण मानते हैं। परवर्ती आचार्यों ने आचार्य शंकर के मत को बौद्धमत से जोड़ते हुए उसे महायानिक बौद्ध गाथित मायावाद कहा है और आचार्य भास्कर को क्षपणकपादावनत-शिरोबिम्ब। भट्ट कुमारिल का कहना है कि कुछ आचार्यों ने मीमांसा शास्त्र को लोकायत (चार्वाक) मत का अनुवर्ती बना दिया (प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता)। इन सब वचनों की पृष्ठभूमि में सभी भारतीय दर्शनों के अनुशीलन की नई पद्धति का विकास हमें करना चाहिए कि किस प्रकार वैचारिक संघर्ष के बीच इन दर्शनों का विकास हुआ।

संक्षेप

सर्वदर्शन संग्रह के जैन प्रकरण के अन्त में जैन मत का संक्षिप्त परिचय इस तरह से दिया गया है—बल, भोग, उपभोग (इन्द्रिय सुख), दान और लाभ के अन्तराय, निद्रा, भय, अज्ञान, जुगुप्सा, हिंसा, रति (इच्छा), अरति (अनिच्छा),

राग, द्वेष, अविरति (अवैराग्य), स्मर (काम), शोक तथा मिथ्यात्व—ये अठारह प्रकार के दोष जिसमें विद्यमान नहीं हैं, वही जिनेन्द्र है, वही हमें तत्त्वों का सम्यग् ज्ञान कराने वाला गुरु है। सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चरित्र—ये तीन रत्न हमें मोक्ष की तरफ ले जाते हैं। इस स्याद्वाद मत में प्रत्यक्ष और अनुमान (परोक्ष) दो प्रमाण मान्य हैं। यहाँ सब कुछ नित्या- नित्यात्मक है। यहाँ सात या नौ तत्त्व माने गये हैं। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष—ये इनके नाम हैं। इन तत्त्वों का लक्षण अब बतलाया जा रहा है।

जीव चेतना से संयुक्त होता है, अजीव में चेतना नहीं रहती। सत्कर्म के पुद्गल पुण्य के और असत्कर्म के पुद्गल पाप के नाम से जाने जाते हैं। आस्रव सांसारिक प्रकार का द्वार है और संवर के माध्यम से इसे बन्द कर दिया जाता है। पुद्गल में सदसत् कर्मों के प्रवेश से आत्मा बन्धन में पड़ जाता है और निर्जरा इन बन्धनों को क्षीण करती है। अष्टविध कर्मों का क्षय हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। कुछ आचार्य पुण्य का संवर में और पाप का आस्रव में अन्तर्भाव मानते हैं। उनके मत में सात ही तत्त्व हैं।

जिसे चार अनन्त पदार्थ (ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख) मिल चुके हैं, जो संसार से बँधा हुआ नहीं है, आगूढ है तथा जिसके आठों कर्म नष्ट हो चुके हैं, उस आत्मा को जिन (भगवान्) की कही गई निर्व्यावृत्ति (जहाँ से वापस नहीं आना है) मुक्ति मिलती है।

श्वेताम्बर मुनि रजोहरण (पिच्छिका) को अपने साथ रखते हैं, भिक्षान्न-भोजी, अपने केशों का लुंचन करने वाले, क्षमाशील तथा आसक्ति से रहित रहते हैं। दिगम्बर मुनि केशों का लुंचन करने वाले, मोर के पंख की पिच्छिका लिए तथा हाथों को ही पात्र मानकर (करपात्री) भोजन ग्रहण करते हैं और दाता के घर पर ही खड़े-खड़े भोजन करते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि केवलज्ञान से युक्त पुरुष भोजन नहीं करता और स्त्री को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, पुरुष-जन्म के उपरान्त ही इनको मुक्ति मिल सकती है। दिगम्बरों का श्वेताम्बरों के साथ इस विषय में भारी मतभेद है।

श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के परस्पर मतभेदों की चर्चा पहले (पृ० ८२-८३) भी अधिक विस्तार से हो चुकी है।



बौद्ध दर्शन

गौतम बुद्ध

गौतम बुद्ध कपिल वस्तु के निकट लुम्बिनी वन में ई०पू० ५६० में वैशाखी पूर्णिमा के दिन पैदा हुए थे। उनके पिता शुद्धोदन शाक्य वंश के राजा थे। उनकी माँ का नाम रानी महामाया था। गाथाओं के अनुसार उनके सम्बन्ध में ऐसी भविष्यवाणी की गई थी कि जिस दिन बुद्ध रुग्ण, वृद्ध या मरे हुए आदमी को देख लेंगे, उसी दिन वे विरक्त हो जायेंगे। उनके पिता ने उनको इन सबसे दूर रखने का प्रयत्न किया और उनको विलास की सामग्री से घेर कर उनका विवाह भी कर दिया। परन्तु जब वे महल से बाहर निकले, तब एक-एक कर ये सब दृश्य दिखाई पड़े। इनको देख कर उनका हृदय दुःख और आश्चर्य से भर गया।

यह देख उन्होंने गृहत्याग का निश्चय किया और मनुष्य के दुःखों को मिटाने के लिए, अमरत्व की प्राप्ति के लिए उचित मार्ग खोजने का निश्चय किया। जब वे १९ वर्ष के थे, तब उन्होंने महाभिनिष्क्रमण कर घर छोड़ दिया। वे पहले राजगृह गये और वहाँ से उरुवेला जाकर वहाँ अन्य पाँच मुनियों के साथ आत्मसंयम एवं कठोर तपस्या में लग गये। ६ वर्ष तक कठिन तपस्या करने के पश्चात् उन्होंने यह अनुभव किया कि केवल कठोर तपस्या से सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। तत्पश्चात् वे साधारण ढंग से साधना करते रहे। अन्त में उन्होंने महान् सत्य के दर्शन किए और आत्मलाभ (बोधि) का प्रकाश प्राप्त किया। तत्पश्चात् बुद्ध ४५ वर्ष तक एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। ८० वर्ष की अवस्था में उन्होंने महापरिनिर्वाण में प्रवेश किया।

बौद्ध साहित्य

गौतम बुद्ध के जीवन काल में उनके उपदेश लिपिबद्ध नहीं हुए थे। उनके महापरिनिर्वाण के बाद उनके समस्त उपदेशों को एक सूत्र में ग्रथित करने के लिए राजगृह में प्रथम धर्मसंगीति का आयोजन किया गया। इस सभा में ५०० भिक्षु सम्मिलित हुए थे। इसीलिए बौद्ध अनुश्रुति में यह सभा 'पंचशतिका' के नाम से प्रसिद्ध है। इस संगीति में विनयधर उपालि ने विनय का तथा आनन्द ने सूत्रों का संगायन किया था। प्रथम संगीति के संगायन के आधार पर ही आगे चलकर अभिधर्म का भी संग्रह हुआ। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद

वैशाली में दूसरी संगीति आयोजित हुई, इसमें ७०० भिक्षु सम्मिलित हुए थे। पालि-साहित्य में यह सप्तशतिका के नाम से प्रसिद्ध है। सम्राट् अशोक के समय में बुद्ध के महापरिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद तीसरी संगीति पाटलिपुत्र में आयोजित हुई। इसमें पालि त्रिपिटक का वर्तमान स्वरूप निर्धारित हुआ। विनय, सूत्र और अभिधर्म के नाम से ये प्रसिद्ध हैं। इनका और मिलिन्द प्रश्न जैसे ग्रन्थों के समावेश से बने अनुपिटक साहित्य का परिचय हमने निगमागम संस्कृति (पृ० १२९-१४६) में संगृहीत ''बौद्ध ग्रन्थ-सम्पति'' शीर्षक निबन्ध में विस्तार से दिया है।

बौद्ध धर्म में महायान शाखा का विस्तार होने पर संस्कृत भाषा में भी त्रिपिटिक का निर्माण हुआ। सूत्र साहित्य और पारमिता साहित्य के नाम से यह प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त माध्यमिक (शून्यवादी)-योगाचार (विज्ञानवादी)-सौत्रान्तिक-वैभाषिक नामों से प्रसिद्ध हुए चतुर्विध बौद्ध दार्शनिकों का साहित्य भी अतिविशाल है। शून्यतावादी नागार्जुन, आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति, शान्तिदेव आदि के द्वारा, विज्ञानवादी असंग, वसुबन्धु, स्थिरमति आदि के द्वारा रचित दार्शनिक ग्रन्थों के अतिरिक्त दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, मनोरथनन्दी, ज्ञानश्री, रत्नकीर्ति जैसे प्रसिद्ध बौद्ध न्यायाचार्यों के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। बौद्ध योग एवं तन्त्रों का विशाल साहित्य भी उपलब्ध है और तिब्बती तंजूर-कंजूर में भोट-भाषा में अनूदित सूत्र और तन्त्र साहित्य आज भी सुरक्षित है। संस्कृत भाषा में रचित काव्य और कथा साहित्य की भी विशाल राशि उपलब्ध है। हमने उक्त निबन्ध में इस पूरी सामग्री का परिचय देने का प्रयत्न किया है।

बौद्ध धर्म-दर्शन को तीन बड़े विभागों में बाँटा गया है और उनको हीनयान, महायान एवं वज्रयान में विभक्त किया गया है। बौद्ध मन्त्रयानी दार्शनिक अद्वयवज्र इस नामकरण को उचित नहीं मानते। वे हीनयान के श्रावकयान और वज्रयान को मन्त्रयान नाम देना उचित समझते हैं। आचार्य अद्वयवज्र का यह सही दृष्टिकोण है। इनके बनाये विभाग को मान्यता मिले, यह हमारी भी अभिलाषा है।

चार आर्य सत्य

भगवान बुद्ध ने अपने जीवन में चार आर्य-सत्यों की खोज की थी। ये चार आर्य सत्य हैं—दुःख, समुदय, मार्ग और निरोध। चिकित्साशास्त्र और योगशास्त्र में निरूपित चतुर्व्यूह से हम इनकी तुलना कर सकते हैं। चिकित्साशास्त्र में स्वास्थ्य लाभ के लिए रोग, रोगहेतु, आरोग्य और भैषज्य—इस चतुर्व्यूह को समझना जरूरी होता है अथवा योगशास्त्र में कैवल्य की प्राप्ति के लिए संसार, संसारहेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय—इन चार स्वरूपों को समझना

जरूरी है, उसी तरह से महात्मा बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट निर्वाण की प्राप्ति के लिए इन चार आर्य सत्यों को समझना आवश्यक है। योगशास्त्र में निर्दिष्ट चतुर्व्यूह (हेय-हेयहेतु-हान-हानोपाय) की चर्चा हम योग-दर्शन (४१-४२) में कर चुके हैं। उसके आधार पर इस प्रसंग को सरलता से समझा जा सकता है। यहाँ हम क्रमशः उन चार आर्य सत्यों का परिचय दे रहे हैं।

पंच स्कन्ध

१. **दुःख**—पहला आर्य सत्य है दुःख। विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप नामक **पाँच स्कन्ध** ही संसारी जीवों के दुःख के कारण हैं। सब कुछ क्षणिक है, इस बात का ज्ञान ही **विज्ञान** कहलाता है। पूर्व जन्म में किये गये पुण्य और पाप के परिणामों से प्राप्त होने वाला सुख-दुःख की अनुभूति ही **वेदना** कहलाती है। यह सब कुछ सचेतन अथवा अचेतन (स्थावर-जंगमात्मक जगत्) का व्यवहार **संज्ञा** मात्र है, नाम पर आधृत है। इस संसार में स्त्री, पुत्र, मित्र, भ्राता आदि की अथवा घट-पट आदि पदार्थों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। संज्ञा नामक स्कन्ध से इसकी सूचना मिलती है। पुण्य-पाप आदि धर्मों के समुदाय को **संस्कार** स्कन्ध कहते हैं। इस संस्कार के प्रबोध से पहले जाने गये यथार्थ का स्मरण प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। पृथिवी आदि धातुएँ तथा रूप आदि विषय **रूप स्कन्ध** कहलाते हैं। सर्वदर्शन संग्रह (पृ० १६) में रूप, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार—यह है पंच स्कन्धों का क्रम। षड्दर्शन समुच्चय को छोड़ कर अन्यत्र प्रायः यही क्रम मान्य है। इनके लक्षणों में भी कुछ अन्तर देखने को मिलता है।

इन विज्ञान आदि स्कन्धों से भिन्न, सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-ज्ञान आदि का आधारभूत आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ बौद्ध दर्शन में मान्य नहीं है और न स्कन्धों से भिन्न आत्मा का प्रत्यक्ष से ही अनुभव होता है। ऐसे आत्मा के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला कोई निर्दोष लिंग भी नहीं है, जिससे अनुमान के द्वारा आत्मा की सिद्धि की जाय। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही अविसंवादी प्रमाण बौद्धमत में स्वीकृत हैं। इनसे भिन्न कोई तीसरा प्रमाण नहीं है। ये पाँचों स्कन्ध क्षणिक हैं, एक क्षण तक ही ठहरते हैं और दूसरे क्षण में विनष्ट हो जाते हैं। ये स्कन्ध न तो कूटस्थ नित्य (सदा एक रूप से रहने वाले) ही हैं और न कालान्तर स्थायी (दो चार क्षण तक ठहरने वाले) ही हैं। ये तो एक ही क्षण तक ठहरते हैं और दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं। **मार्ग** नामक तृतीय आर्य सत्य का निरूपण करते समय स्कन्धों की क्षणिकता को स्पष्ट किया जायेगा। पाँच स्कन्धों की यह सतत चलने वाली क्षणिक सन्तति ही सभी सांसारिक दुःखों की जननी

है। इन पाँच स्कन्धों की अनन्त सन्ततियों में से जिस सन्तति में जिन कर्मों की वासनाएँ जुड़ी रहती हैं, उनका फल उन्हीं को भोगना पड़ेगा, किसी अन्य को नहीं। कपास के बीज को रंग देने पर जैसे उससे लाल कपास पैदा होती है, वैसा ही यहाँ समझना चाहिए। इस प्रकार बौद्धमत में क्षणभंगवाद को स्वीकार करने पर भी वहाँ कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम का दोष प्रसक्त नहीं होगा।

२. **समुदय**—द्वितीय आर्य सत्य का नाम **समुदय** है। इसी से राग, द्वेष, मोह आदि दोषों के समग्र समूहों की उत्पत्ति होती है। यह मैं हूँ, यह मेरा है; यह दूसरा है, यह दूसरे का है—इस तरह का राग-द्वेष के बन्धन में बाँधने वाला यह व्यवहार ही समुदय के नाम से जाना जाता है।

३-४. **मार्ग और निरोध**—ये सब संस्कार क्षणिक हैं, इस तरह की वासना का ही नाम मार्ग है और इस तरह की समस्त वासनाओं का नाश निरोध (मोक्ष) है।

यह क्रम षड्दर्शन समुच्चय में प्रदर्शित है। षड्दर्शन संग्रह में दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग यह क्रम मिलता है। वस्तुतः इस विषय को दुःख, दुःख-समुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत् (मार्ग) इन शब्दों से अधिक सरलता से समझा जा सकता है। यह संसार दुःखमय है, अतः हेय है। राग-द्वेष आदि के कारण यह दुःख बढ़ता है, अतः इस हेय संसार के हेतुओं की खोज व्यक्ति को करना चाहिए। दुःखों के कारणों की खोज हो जाने के बाद इनके निरोध के उपायों की खोज होनी चाहिए, अर्थात् उनका हान करना चाहिए। अन्ततः सभी सांसारिक दुःखों के नाश के लिए मोक्षमार्ग की ओर बढ़ना चाहिए, दुःख के हान (नाश) के लिए उपायों का सहारा लेना पड़ता है। आगे उनको बताया जा रहा है।

द्वादश आयतन

पाँच इन्द्रियाँ, शब्द आदि पाँच विषय, मन (चित्त) और धर्मायतन (शरीर)—ये बारह आयतन हैं। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा तथा स्पर्शन नामक पाँच इन्द्रियाँ हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पाँच उन इन्द्रियों के विषय हैं। मानस अर्थात् चित्त तथा सुख-दुःख आदि धर्मों का आयतन (गृह) यह शरीर—ये जब मिलकर बारह आयतन होते हैं। ये आयतन भी क्षणिक हैं।

बौद्धों का यह सिद्धान्त है कि अर्थ क्रियारूप ही सत्त्व होता है। जो पदार्थ **अर्थक्रिया** करता है, वही सत् कहा जाता है, जैसे घट जल को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के काम में आता है। नित्य पदार्थ क्रम से या एक साथ दोनों ही तरह से **अर्थक्रिया** नहीं कर सकता, अतः अर्थक्रिया लक्षण सत्त्व नित्य पदार्थ

को छोड़कर क्षणिक तत्त्व में ही रहता है। ऐसी अवस्था में यह अनुमान करना बिलकुल सहज है कि जो जो सत् होते हैं, वे सब क्षणिक हैं, जैसे दीपक की लौ। द्वादशायतन भी उसी तरह से सत् हैं, क्योंकि इनमें भी अर्थक्रियाकारिता है। इस अनुमान से यह भी सिद्ध होता है कि बारह आयतनों के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। अतः क्षणिकत्व इन बारह आयतनों में ही रहती है।

द्वादश निदान

दुःख और दुःखसमुदय नामक दो सत्यों की ऊपर चर्चा आ चुकी है। इस संसार में दुःख की सत्ता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। दुःखसमुदय का अर्थ है—दुःखों का कारण। इस दुःख के उदय में केवल एक ही कारण नहीं है। अपितु कारणों की एक लम्बी शृंखला है। इस कारण-परम्परा को बौद्ध दार्शनिकों ने द्वादश निदान के रूप में जाना है। इनके नाम हैं—१. जरा-मरण, २. जाति, ३. भव, ४. उपादान, ५. तृष्णा, ६. वेदना, ७. स्पर्श, ८. षडायतन, ९. नामरूप, १०. विज्ञान, ११. संस्कार और १२. अविद्या। इनमें पूर्व के प्रति पर की कारणता मानी गई है।

जैसे **जरा-मरण** का कारण है **जाति,** जन्म लेना। जाति का कारण है **भव,** अर्थात् प्राणी मात्र के पुनर्भव या पुनर्जन्म करने वाले कर्म। भव उत्पन्न होता है **उपादान** (आसक्ति) से। उपादान अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे कामोपादान (स्त्री में आसक्ति), शीलोपादान (व्रतों में आसक्ति) से कहीं बढ़कर है आत्मोपादान (आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति)। आसक्ति पैदा होती है **तृष्णा** (इच्छा) के कारण। इन्द्रियों के द्वारा बाह्यर्थ का अनुभव हुए बिना तृष्णा की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः **वेदना** (इन्द्रियजन्य अनुभूति) तृष्णा की जननी है। वेदना की उत्पत्ति **स्पर्श** अर्थात् विषयेन्द्रिय के सम्पर्क से होती है, जो स्वयं **षडायतन** (मन के साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) के ऊपर निर्भर है। यह षडायतन **नामरूप,** अर्थात् दृश्यमान शरीर तथा मन से संवलित संस्थान-विशेष का कार्य है। नामरूप की सत्ता **विज्ञान** (चैतन्य) पर प्रतिष्ठित है। यह विज्ञान **संस्कार** से उत्पन्न होता है, जो स्वयं **अविद्या** (अज्ञान) का कार्य है। इन सब पर हम एक साथ दृष्टि डालें तो हमें प्रतीत होगा कि समस्त दुःख-पुंजों की उत्पत्ति (समुदय) का अविद्या ही मूल कारण है। इन बारह निकायों के चक्र को भवचक्र कहा जाता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद

इस भव-चक्र का सम्बन्ध भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों जन्मों से रहता है। इन्हीं १२ निदानों का नामान्तर प्रतीत्यसमुत्पाद है। यह बौद्ध धर्म का मौलिक

सिद्धान्त माना जाता है। इसका अर्थ है—प्रतीत्य (किसी वस्तु की प्रतीति के होने पर) समुत्पाद (अन्य वस्तु की उत्पत्ति)। इसे सापेक्ष कारणतावाद कहा जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्धमत-सम्मत कारणवाद है। मनुष्य की उत्पत्ति शृंखलाबद्ध है। अविद्या से लेकर जरामरण-पर्यन्त यह भव-चक्र की शृंखला निरन्तर चलती रहती है। इस शृंखला को तोड़ने के लिए चतुर्थ आर्य सत्य (दुःखनिरोध-गामिनी प्रतिपत्) का सहारा लेना पड़ता है।

आर्य अष्टांगिक मार्ग

दार्शनिक जगत् में बुद्धोपदिष्ट निर्वाण-प्राप्ति का यह मार्ग मध्यमा प्रतिपत्, अर्थात् मध्य (बीच) का मार्ग कहलाता है। सुखसमृद्धि और कठिन तपस्या—इन दोनों के बीच से यह मार्ग निकलता है। बौद्ध दार्शनिकों ने इसको 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' नाम दिया है। इस मार्ग सत्य के आठ अंग ये हैं—**१. सम्यग् ज्ञान** (आर्यसत्यों का तत्त्व-ज्ञान), **२. सम्यक् संकल्प** (दृढ़ निश्चय), **३. सम्यग् वचन** (सत्य वाक्), **४. सम्यक् कर्मान्त** (निर्दोष कर्म), **५. सम्यग् आजीव** (सही जीविका), **६. सम्यग् व्यायाम** (बुराइयों को उत्पन्न न होने देना तथा भलाई के लिए निरन्तर लगे रहना), **७. सम्यक् स्मृति** (चित्त, शरीर, वेदना आदि के अशुचि एवं अनित्य रूपों की उपलब्धि से तथा लोभ आदि के संताप से दूर रहना), और **८. सम्यक् समाधि** (राग-द्वेष जैसे द्वन्द्वों के विनाश के कारण उत्पन्न हुई, चित्त की शुद्धि के कारण उत्पन्न हुई चित्त की स्वाभाविक एकाग्रता)। इस अष्टांग मार्ग के सेवन से सरलता से प्रज्ञा का उदय होता है। निर्वाण-प्राप्ति का यह अति सरल मार्ग है। इनके आचरण से साधक को शील, समाधि और प्रज्ञा के नाम से प्रसिद्ध त्रिरत्न की प्राप्ति होती है।

त्रिरत्न

निर्वाण की प्राप्ति के शील, समाधि और प्रज्ञा नामक तीन साधनों को बौद्ध दर्शन में त्रिरत्न के नाम से जाना जाता है। शील का अर्थ सदाचरण है। भिक्षु तथा गृहस्थ दोनों के लिए कतिपय साधारण शील (नियम) हैं, जिनका पालन करना प्रत्येक बौद्ध के लिए आवश्यक है। अहिंसा, अस्तेय, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य तथा मादक पदार्थों का सेवन न करना—ये **पंचशील** कहे जाते हैं। इनकी व्यवस्था दोनों के लिए समान हैं, किन्तु भिक्षुओं के लिए इनके अतिरिक्त दूसरे पाँच शीलों अर्थात् दस शीलों का उपदेश है। उनके नाम हैं—१. अपराह्न भोजन, २. माला-धारण, ३. संगीत-त्याग, ४. सुवर्ण-रजत तथा, ५. महार्ह शय्या का त्याग।

समाधि से तीन प्रकार की विद्याएँ उत्पन्न होती हैं—पूर्वजन्म की स्मृति, जीव की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान तथा चित्त के बाधक विषयों की जानकारी।

दीघनिकाय (पृ० २८-२९) में चार प्रकार की समाधियों का दृष्टान्त सहित सुन्दर वर्णन मिलता है। विशुद्धि मग्गो बौद्ध योगशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

प्रज्ञा तीन प्रकार से प्राप्त होती है—श्रुतमयी (आप्त पुरुष को सुनकर), चिन्तामयी (युक्ति से उत्पन्न) और भावनामयी (समाधिजन्य निश्चय)। शील सम्पन्न, श्रुत और चिन्ता नामक प्रज्ञा से युक्त पुरुष भावना का अधिकारी होता है। इस त्रिविध प्रज्ञा के अनुष्ठान से ज्ञान दर्शन, मनोमय शरीर का निर्माण, दिव्य श्रोत्र, पर चित्त ज्ञान, पूर्वजन्म का स्मरण, दिव्य चक्षु जैसी ऋद्धियों की प्राप्ति होती है। चित्त कामास्रव, भवास्रव तथा अविद्यास्रव से सदा के लिए मुक्त हो जाता है और साधक निर्वाण प्राप्त कर लेता है। बुद्ध की शिक्षाओं का सारांश शील, समाधि और प्रज्ञा—इन तीन शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है।

प्रमाण विचार

बौद्धमत में अविसंवादी (सम्यक्) ज्ञान को प्रमाण कहा गया है। प्रत्यक्ष और अनुमान के भेद से यह सम्यग् ज्ञान (प्रमाण) दो प्रकार का है। इस विषय को प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति के ग्रन्थ न्यायबिन्दु की सहायता से सरलता से समझा जा सकता है। वहाँ प्रारम्भ में ही बताया गया है कि सभी पुरुषार्थों की सिद्धि सम्यग् ज्ञान की सहायता से हो सकती है और यह सम्यग् ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान के भेद से दो प्रकार का होता है, अर्थात् हमें किसी भी वस्तु की सही जानकारी इन दो प्रमाणों से ही हो सकती है। जैन दर्शन में भी दो ही प्रमाण हैं, किन्तु उनके नाम वहाँ प्रत्यक्ष और परोक्ष दिये गये हैं और परोक्ष प्रमाण में वे आगम (शब्द) का भी अन्तर्भाव करते हैं। सांख्य-योग दर्शन में तो प्रमाणों में आगम भी स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है। इसके विपरीत बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त अन्य किसी तीसरे प्रमाण को मान्यता नहीं दी गई है।

प्रत्यक्ष का लक्षण

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण देते हुए वहाँ कहा गया है कि कल्पना से रहित निर्भ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान को कल्पनापोढ और अभ्रान्त बताया गया है। अभिलाप (वाचक शब्द) के संसर्ग से उठ खड़ी होने वाली प्रातिभासिक प्रतीति को कल्पना कहते हैं। वृक्ष शब्द के कहते ही हमारे मन में इस शब्द के संसर्ग से इस शब्द के योग्य स्कन्ध-शाखा आदि से युक्त पदार्थ का प्रतिभास होने लगता है। उस पदार्थ की प्रतीति को **कल्पना** कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान इस तरह की कल्पना से रहित होना चाहिए। इसे हम पातञ्जल योगसूत्र में प्रदर्शित—''शब्दज्ञानानुपूर्वी वस्तुशून्यो विकल्पः'' इस विकल्प के लक्षणों से समरस कर सकते हैं। नैयायिकों के यहाँ स्वीकृत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही

बौद्ध प्रमाण मानते हैं, सविकल्पक प्रत्यक्ष तो नाम-जाति आदि की कल्पनाओं (विकल्पों) से भरा रहता है, अतः उसे यहाँ प्रत्यक्ष नहीं माना जाता।

इस प्रत्यक्ष ज्ञान को कल्पना से रहित तो होना ही चाहिए, साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह अभ्रान्त हो, सभी तरह की भ्रान्तियों से रहित हो। अन्धकार के कारण, अलात चक्र, बिजली का पंखा जैसी वस्तुओं के तीव्र गति से घूमने के कारण, नाव पर या आधुनिक बस, ट्रेन जैसे द्रुतगामी यानों पर यात्रा करते समय या पीलिया जैसे रोगों से ग्रस्त हो जाने पर व्यक्ति को नाना विभ्रमों की प्रतीति होने लगती है। इस तरह की भ्रान्तियों से भी प्रत्यक्ष ज्ञान को मुक्त होना चाहिए, अर्थात् कल्पना से रहित निर्भ्रान्त ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में आता है।

चतुर्विध प्रत्यक्ष

यह प्रत्यक्ष ज्ञान चार प्रकार का है—इन्द्रिय ज्ञान, मनोविज्ञान, आत्म-संवेदन (स्वसंवेदन) और योगिप्रत्यक्ष (योगी का ज्ञान)। **इन्द्रिय ज्ञान** इन्द्रियों की सहायता से पैदा होता है। अपने विषय के पश्चात् विषय के सहकारी, समनन्तर प्रत्ययरूप इन्द्रिय ज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान **मनोविज्ञान** कहलाता है। सभी चित्त (अर्थमात्र को ग्रहण करने वाले) और चैत्तों (विशेष अवस्था को ग्रहण करने वाले सुख आदि) का आत्मा में प्रकट होना **आत्मसंवेदन** कहलाता है। इसी तरह सद्भूत अर्थ के प्रकर्ष तक होने वाले ज्ञान को **योगिप्रत्यक्ष** कहते हैं। योगी का प्रत्यक्ष सद्भूत अर्थ का ही हो सकता है, असद्भूत का नहीं। वह भी थोड़ा नहीं होता, किन्तु प्रकर्ष पर्यन्त, अर्थात् चरम सीमा तक होता है।

इस प्रसंग में दो विषयों पर विचार कर लेना जरूरी है—एक तो प्रत्यय, जिसकी चर्चा मनोविज्ञान के लक्षण में हुई है और दूसरा वस्तु के बाह्य और आन्तर भेद।

चार प्रत्यय

बौद्ध दर्शन में ज्ञान के चार प्रत्यय (कारण) माने गये हैं। नेत्र से घट को देखने में पहला कारण स्वयं घट है। विषय के रूप में रहने से यह **आलम्बन प्रत्यय** कहलाता है। दूसरा कारण **आलोक** है। प्रकाश की सहायता के बिना इन्द्रियाँ किसी विषय को ग्रहण नहीं कर सकतीं, अतः यह **सहकारी प्रत्यय** है। तीसरा कारण स्वयं इन्द्रियाँ हैं। इनको **अधिपति प्रत्यय** कहते हैं। चौथा कारण ग्रहण करने अथवा विचार करने की वह शक्ति है, जिसका उपयोग न होने पर हम प्रायः देखते हुए भी नहीं देख पाते, शब्द होते हुए भी हम उसे सुन नहीं पाते। इसको **समनन्तर प्रत्यय** कहते हैं। सर्वदर्शन संग्रह (पृ० १६) में प्रत्ययों का क्रम आलम्बन, समनन्तर, सहकारी और अधिपति—यह रखा गया है। इसी क्रम में वहाँ इनके लक्षण भी दिये गये हैं।

वस्तु

बाह्यार्थास्तित्ववादी वैभाषिक बौद्धों के मत में वस्तु की बाह्य सत्ता मान्य है। यहाँ प्रत्येक वस्तु के दो भेद होते हैं—बाह्य और आन्तर। बाह्य के फिर दो भेद होते हैं—भूत और भौतिक। आन्तर के भी दो भेद हैं—चित्त और चैत्त। चैत्त को चैत्तिक भी कहते हैं। भूत पृथ्वी-आदि के चार परमाणु हैं। भौतिक रूप-आदि एवं चक्षु-आदि हैं। चित्त विज्ञान है। चैत्तिक रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार नामक पाँच स्कन्ध हैं। विज्ञान के भी दो भेद होते हैं—आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान। आलय विज्ञान अहं को आलम्बन बनाता है और प्रवृत्ति विज्ञान इन्द्रिय आदि से उत्पन्न होता है और रूप आदि को अपना विषय बनाता है।

प्रत्यक्ष का विषय

ऊपर चतुर्विध प्रत्यक्ष का निरूपण करते समय चार प्रत्ययों और वस्तु के भेदों की प्रसंगवश चर्चा की गई है। अब हम पुनः प्रत्यक्ष प्रमाण की चर्चा के साथ उसके लक्षण को स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण, अर्थात् क्षण विशेष है। जिस विषय की संनिधि और असंनिधि के कारण ज्ञान के प्रतिभास में भेद हो, उसे स्वलक्षण कहते हैं, वही परमार्थ सत् है, क्योंकि इसी के कारण वस्तु में **अर्थ-क्रिया** का सामर्थ्य रहता है। स्वलक्षण से भिन्न सामान्य लक्षण होता है। यह अनुमान प्रमाण का विषय है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण का फल प्रत्यक्ष ज्ञान ही है। इस ज्ञान का अर्थ के समान बन जाना ही प्रमाण है, क्योंकि उसी से अर्थ की प्रतीति की सिद्धि होती है।

अनुमान

ऊपर अभी स्वलक्षण से भिन्न सामान्य लक्षण को अनुमान प्रमाण का विषय बताया गया है। स्वार्थ और परार्थ के भेद से यह दो प्रकार का होता है। इनमें से तीन रूप वाले लिंग से होने वाले अनुमेय के ज्ञान को स्वार्थानुमान कहते हैं। लिंग के तीन रूप ये हैं—१. अनुमेय में लिंग की विद्यमानता, २. लिंग का सपक्ष में अवश्य रहना और उसका विपक्ष में किसी भी अवस्था में न रहना। जिस धर्मी को अनुमान के द्वारा जानने की इच्छा की जाती है, उसे अनुमेय कहते हैं, जैसे पर्वत में वह्नि साध्य है। जो पदार्थ साध्य धर्म के समान हो, उसे सपक्ष कहते हैं। जैसे पर्वत के समान ही महानस (रसोई घर) में भी धूम दिखाई पड़ता है। यहाँ महानस सपक्ष है और सरोवर में धूम के न रहने से वह असपक्ष। बौद्ध दर्शन में त्रिविध लिंग से ही अनुमेय की सिद्धि मानी गई है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में त्रिविध लिंग के अतिरिक्त उपनय और निगमन के रूप में पंचविध लिंगों को जो मान्यता दी गई है, वह यहाँ स्वीकार्य नहीं है।

परार्थानुमान में उक्त तीन रूप वाले लिंग को तीन वाक्यों के माध्यम से दूसरों को समझाया जाता है। यह परार्थानुमान साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत् के रूप में द्विविध वाक्यप्रयोग के आधार पर दो प्रकार का होता है। 'यथा महानसम्' यह प्रयोग साधर्म्यवत् कहलावेगा तथा ''यत्रैवं तत्रैवं यथा महाह्रदः'' वैधर्म्यवत्।

अर्थक्रियाकारित्व

प्रत्यक्ष प्रमाण का परिचय देते हुए बताया गया है कि स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है। यही परमार्थ सत् है, इसी के कारण अर्थक्रियाकारित्व की सामर्थ्य रहती है। इसको समझ लेने की आवश्यकता है। सत्ता अथवा किसी पदार्थ के होने का तात्पर्य यह है कि उसके लक्षण (समुदाय) के द्वारा क्या कार्य किया जाता है अथवा उस समुदाय के द्वारा अन्य समुदाय पर क्या प्रभाव डाला जाता है। इसे ही अर्थक्रियाकारित्व नाम दिया गया है। इसका अभिप्राय है कार्यों को करने की शक्ति अथवा किसी प्रकार का उद्देश्य। सत्ता अथवा होने का मापदण्ड ही यही है कि कुछ विशिष्ट क्रियाओं का सम्पादन। सत्ता का तात्पर्य यह भी है कि किस प्रकार एक विशिष्ट कार्य (अर्थक्रिया) सम्पादित होता है। जिससे इस प्रकार की अर्थक्रिया का प्रादुर्भाव होता है, उसी पदार्थ को सत् या सत्ताशील कहा जाता है। विनीतदेव ने 'अर्थक्रियासिद्धि' शब्द का अर्थ किया है—किसी प्रयोजन की सिद्धि करना, जैसे लकड़ी से अग्नि जला कर चाँवलों को पकाने का कार्य, अथवा घट से जल भर कर ले जाने का कार्य। इस प्रकार जिस पदार्थ में अर्थक्रिया, अर्थात् मनुष्य के किसी भी प्रयोजन को पूरा करने की सामर्थ्य हो, उसे ही सत् या सत्ताशील माना जायेगा।

नैरात्म्यवाद

राग-द्वेष जैसे दोषों के मूल में आत्मवाद को कारण मानकर बुद्धदेव ने आत्मा जैसे एक पृथक् पदार्थ की सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया। वे मानसिक अनुभव तथा विभिन्न प्रवृत्तियों को स्वीकार करते हैं, जैसा कि अभी ऊपर बतलाया गया है, परन्तु आत्मा के पंच स्कन्ध के संघात (समूह) के अतिरिक्त भिन्न पदार्थ के रूप में कोई मान्यता नहीं देते। आत्मा प्रत्यक्षगोचर मानस प्रवृत्तियों का पुंजमात्र है, इन प्रवृत्तियों के समूह के अतिरिक्त अन्यत्र उसकी सत्ता कभी प्रत्यक्ष रूप दिखाई नहीं पड़ती। पंच स्कन्धों का परिचय पहले दिया जा चुका है। पंचस्कन्धों के संघात के अतिरिक्त बौद्ध दर्शन में आत्मा की कोई पृथक् सत्ता मान्य न होने से **संघातवाद** के नाम से भी यह मत प्रसिद्ध है। मिलिन्दप्रश्न में भदन्त नागसेन ने रथ के दृष्टान्त से आत्मा की यथार्थ स्थिति को समझाया है। जैसे दण्ड, चक्र, अक्ष, रस्सी, चाबुक आदि सबको मिलाकर व्यवहार के लिए

रथ नाम दे दिया गया है, उसी तरह से पंचस्कन्धों के संघात के अतिरिक्त किसी अवयवी की कोई स्थिति न होने से उसे आत्मा नाम दे दिया जाता है। स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन में नित्य आत्मा को अस्वीकार कर देने से यह नैरात्यवादी दर्शन है और पंचस्कन्ध के संघात को ही आत्मा मान लेने से यह **संघातवाद** को मान्यता देता है।

सन्तानवाद

बौद्ध मत में समस्त जागतिक पदार्थों की सत्ता क्षणिक मानी गई है। इनका कालिक सम्बन्ध दो क्षण तक भी नहीं रहता। इसीलिए ये क्षणभंगवादी कहलाते हैं। पंचस्कन्ध का संघात भी इनके मत में दो क्षण के लिए भी समान रूप से स्थिर नहीं रहता, वह तो प्रतिक्षण बदलता रहता है। इस प्रकार जीव और जगत् दोनों परिणमनशील हैं। जब समस्त जागतिक पदार्थ क्षणिक हैं, क्षणभंगुर हैं, तब स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि की व्यवस्था कैसे बनेगी? इसके उत्तर में वे **सन्तानवाद** को प्रस्तुत करते हैं। जल प्रवाह और दीपशिखा के उदाहरणों से इस सिद्धान्त को समझाया गया है। नदी के जिस जल में हम अभी स्नान करते हैं, कुछ समय बीत जाने के बाद क्या स्नान के लिए हमें वही जल मिलेगा? दीपशिखा की भी यही स्थिति है। क्षण-क्षण में एक लौ निकल कर अस्त होती है और दूसरी लौ के उत्पन्न होने का कारण बनती है।

सांख्य दर्शन में दूध के दृष्टान्त से परिणामवाद को समझाया गया है। दूध कुछ समय के बाद जम कर दही बन जाता है, दही से मक्खन और मक्खन से घी बनता है। इस तरह भिन्न-भिन्न रूपों में रहते हुए भी ये सब दूध के ही रूप हैं, इस बात को कोई नकार नहीं सकता। ठीक इसी तरह किसी वस्तु के अस्तित्व के प्रवाह में एक अवस्था उत्पन्न होती है और पहली अवस्था का लय हो जाता है। इस तरह से उत्पाद और विनाश का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस क्रम की दो अवस्थाओं में बौद्धमत में एक क्षण का भी अन्तर नहीं रहता, क्योंकि एक का लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है। जन्मान्तर-ग्रहण में भी यही क्रम चलता रहता है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान का अन्त होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है। इसी प्रकार अनुभव का विषय बनने वाली प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त हो रही है। वस्तु की एकता तदाकार वस्तुओं की एक वीथी (सन्तति) है, वास्तविक एकता नहीं। इस प्रकार बौद्धों के क्षणभंगवाद में जागतिक व्यवहार की निष्पत्ति सन्तानवाद पर और अनात्मवाद की संगति संघातवाद पर टिकी हुई है। संघातवाद का मूल आधार पंचस्कन्धात्मक है तथा क्षणभंगवाद द्वादश निकायात्मक (अविद्या से जरामरण

पर्यन्त) भवचक्र, अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रक्रिया से अनुस्यूत है। 'सर्वं क्षणिकम्' इस सिद्धान्त को मान्यता देते हुए भी यहाँ अर्थक्रियाकारिता कैसे सम्पन्न होती है, इस पर हम प्रकाश डाल चुके हैं।

इस प्रकार हमने अब तक यहाँ बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दिया है। परवर्ती काल में यहाँ चार दृष्टियों का विकास हुआ। इन दृष्टियों का अनुसरण करने वाले दार्शनिक माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभासिक के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये क्रमशः सर्वशून्यवाद, विज्ञानवाद, बाह्यर्थानुमेयवाद और बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद का समर्थन करते थे। इन चारों मतों के आचार्यों और उनके ग्रन्थों के अतिरिक्त त्रिविध यानों और सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य की भी संक्षिप्त सूचना हम दे चुके हैं। यहाँ हम इन चार सिद्धान्तों का ऊपर निर्दिष्ट क्रम से परिचय देने जा रहे हैं।

१. शून्यवादी माध्यमिक दर्शन

माध्यमिक दर्शन में बाह्यार्थ के साथ विज्ञान की भी कोई सत्ता नहीं है। उनकी दृष्टि में शून्य ही परमार्थ सत् है। यह शून्य कोई अभाववादी शब्द नहीं है, प्रत्युत यह वेदान्त के ब्रह्म के समान एक अनिर्वचनीय तत्त्व है, जो न सत् है न असत् है, न सदसत् है और न इन दोनों से भिन्न है। इन चारों कोटियों से भिन्न तथा विलक्षण होने के कारण यह परमार्थ सत् शून्य के नाम से सम्बोधित किया गया है। इस मत में निःस्वभाव, अनिर्वचनीय, अलक्षण आदि शब्दों के द्वारा निरूपित **शून्य** ही परम तत्त्व है।

माध्यमिक आचार्यों का कहना है कि इस प्रत्यक्ष जगत् से परे पारमार्थिक सत्ता विद्यमान है, लेकिन वह अवर्णनीय है। उसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वह तत्त्व मानसिक है या बाह्य। लौकिक विचारों से वर्णनीय न होने के कारण यह तत्त्व **शून्य** कहा गया है, परन्तु यह शून्य वस्तुतः अभाव रूप नहीं है। परम तत्त्व के रूप में यह स्वतः एक निरपेक्ष सत्ता है। वह अपनी सत्ता के लिए किसी पर आश्रित नहीं है। किसी पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करने में चार ही कोटियों का प्रयोग किया जा सकता है, जैसा कि अभी ऊपर बतलाया गया है। लेकिन इन कोटियों से परम तत्त्व (शून्य) का स्वरूप जाना नहीं जा सकता। यह मन और वाणी से अगोचर होने से अनिर्वचनीय है। यहाँ अनिर्वचनीय शब्द का प्रयोग उक्त चार कोटियों से विमुक्त तत्त्व के लिए होता है। इसके लिए शून्य शब्द का प्रयोग एक विशेष सिद्धान्त का सूचक है। श्रावकयान के आचार विषयक **मध्यमा प्रतिपत्** के अनुरूप ही माध्यमिक दार्शनिक तत्त्वमीमांसा के विषय में इसी सिद्धान्त को मान्यता देते हैं। इनके अनुसार वस्तु न तो ऐकान्तिक सत्य है और न ऐकान्तिक असत्य; प्रत्युत उसका स्वरूप इन दोनों सत् और असत् के मध्यबिन्दु पर

ही निर्णीत हो सकता है, जो स्वयं शून्यरूप ही होगा। यह शून्य अभाव से पूरी तरह से भिन्न है, क्योंकि अभाव की कल्पना भावसापेक्ष है, परन्तु यह शून्य निरपेक्ष परम तत्त्व का सूचक है। इसी लिए यह शून्यतावादी दर्शन आध्यात्मिक मध्यमार्ग का उद्भावन होने से माध्यमिक के नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

२. विज्ञानवादी योगाचार

विज्ञानवादी आचार्य बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। तब हमें बाह्यार्थ की सत्ता का भान कैसे होता है? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि चित्त में समय-समय पर उत्पन्न होने वाले आकारों का भान ही विज्ञान कहलाता है। इसी पर बाह्यार्थ का भान टिका हुआ है। जब विज्ञान पर ही बाह्यार्थ की सत्ता टिकी हुई है, तो वास्तविक सत्ता तो इसी की हुई। इस तरह से विज्ञान (विज्ञप्ति) ही एकमात्र परमार्थ है। विज्ञान के ही चित्त, मन, विज्ञप्ति आदि पर्याय हैं। एक ही वस्तु विभिन्न नामों के द्वारा अपनी क्रिया के भेद के कारण भिन्न-भिन्न शब्दों से पुकारी जाती है। चेतन क्रिया से सम्बद्ध होने से यह चित्त कहलाता है, मनन-क्रिया करने से वही मन है और विषयों के ग्रहण में कारण होने से वही विज्ञान भी कहलाता है। आलय विज्ञान भी विज्ञान का ही एक प्रकार है।

माध्यमिकों के अनुसार न बाह्य वस्तु की सत्ता है और न चित्त की ही। विज्ञानवादी बाह्य वस्तु की सत्ता को तो नहीं मानते, किन्तु वे चित्त की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि चित्त के द्वारा ही हम किसी भी विषय पर विचार कर सकते हैं। चित के अभाव में कोई भी व्यक्ति अपने मन के मण्डन और दूसरों के मन के खण्डन में कैसे प्रवृत्त हो सकता है? इस दोष से बचने के लिए चित्त की सत्ता को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

चित्त की सत्ता को स्वीकार कर लेने के बाद बाह्य वस्तु की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। आप यह बताइये कि बाहरी वस्तु एक अणु की बनी है या अनेक की? यदि एक अणु की बनी है, तो अणु के सूक्ष्म होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होगा। अनेक अणुओं के संघात से वस्तुओं के बनने पर भी यह दोष उपस्थित होगा कि हम समस्त वस्तु को पूरी तरह से नहीं देख पायेंगे। दूसरी बड़ी कठिनाई यह भी होगी कि वस्तु तो क्षणिक होती है, एक क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है। तब उसका भान कैसे हो सकेगा? सत्तात्मक वस्तु का ही तो प्रत्यक्ष होता है, नष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष कैसे सम्भव है? फलतः बाह्य वस्तु को मानना सर्वथा असम्भव है। अतः विज्ञान की ही एकमात्र सत्ता माननी होगी।

विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान ही एकमात्र सत्य है। जगत् में प्रतीत होने वाली बाह्य वस्तुएँ वस्तुतः चित्त के ही विभिन्न प्रत्यय हैं। विज्ञानवादी चित्त के आठ प्रकारों का निरूपण करते हैं। चतुर्विज्ञान आदि छः भेदों को वैभाषिक भी मान्यता देते हैं, किन्तु इनके मत में मनोविज्ञान तथा आलय विज्ञान नामक दो भेद अधिक हैं। आलय विज्ञान की कल्पना विज्ञानवादियों (योगाचारों) के शून्य विवेचन शक्ति का सूचक है। चतुर्विज्ञान आदि छः विज्ञान बाह्य वस्तु तथा इन्द्रिय के संस्पर्श से उत्पन्न होते हैं, ये विषयज्ञान के द्वारमात्र हैं। ये अपने द्वारा प्राप्त ज्ञान को मनोविज्ञान के पास ले जाते हैं, जो स्वयं आलय विज्ञान के पास उन्हें प्रस्तुत करता है। चतुर्विध प्रत्यक्ष का परिचय देते समय (पृ० १०२) मनोविज्ञान की चर्चा आ चुकी है। आलय विज्ञान तक पहुँचने पर ही विषय का यथार्थ ज्ञान होता है। समस्त जगत् चित्त का परिणाम मात्र है, अतः चित्त के इन्हीं आठ भेदों में समस्त जगत् विद्यमान है।

आलय विज्ञान

आलय विज्ञान को समुद्र के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। हवा के झकोरों से समुद्र में तरंगे उठने लगती हैं, वे निरन्तर अपने करतब दिखाती रहती हैं, कभी विराम नहीं लेतीं; उसी तरह आलय विज्ञान में भी विषय रूपी वायु के झकोरों से चित्र-विचित्र विज्ञान रूपी तरंगें उठती हैं, सदा नाचती हुई अपना खेल दिखाती रहती हैं, कभी रुकती नहीं हैं। आलय विज्ञान समुद्रस्थानीय है, विषय पवन का प्रतिनिधि है तथा विज्ञान सप्तविध-विज्ञान-तरंगों का प्रतीक है। जिस तरह समुद्र और तरंगों में कोई भेद नहीं है, उसी तरह आलय विज्ञान तथा अन्य सप्तविध-विज्ञान विज्ञानाकार से भिन्न नहीं हैं। आचार्य वसुबन्धु ने आलय विज्ञान की वृत्ति जल के ओघ (बाढ) के समान बताई है। जिस प्रकार जल का प्रवाह तृण, काष्ठ आदि नाना पदार्थों को अपने साथ बहाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यह भी पुण्य, अपुण्य आदि नानाविध कर्मों की वासनाओं से जुड़ा हुआ स्पर्श, संज्ञा, वेदना जैसे चैत्त धर्मों को साथ में लेकर, आगे बढ़ता चला जाता है। जब तक यह संसार है, तब तक आलय विज्ञान निरन्तर गतिशील रहता है। यह उस जल प्रवाह के समान है, जो निरन्तर गतिशील रहता है, एक क्षण के लिए भी कहीं रुकना नहीं जानता।

यह आलय विज्ञान आत्मा की प्रतिनिधि माना जाता है, किन्तु इनमें स्पष्ट अन्तर भी विद्यमान हैं, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। आत्मा में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, वह एकाकार, एकरस रहता है। इसके विपरीत आलय विज्ञान में सदा परिवर्तन होता रहता है। अन्य विज्ञान क्रियाशील हों या अपना व्यापार बन्द कर दें, परन्तु यहाँ तो विज्ञान सतत प्रवाहित होता रहता है, क्षण-

क्षण में बदलता रहता है, तो भी इसकी चैतन्य-धारा कभी शान्त नहीं होती। यह प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है। यह समष्टि चैतन्य का प्रतीक है।

आलय विज्ञान से सम्बद्ध चैत्त धर्म पाँच माने गए हैं—१. मनस्कार (चित्त की विषय की ओर एकाग्रता), २. स्पर्श (इन्द्रिय और विषय के साथ विज्ञान का सम्पर्क), ३. वेदना (सुख-दु:ख की भावना), ४. संज्ञा (किसी वस्तु का नाम) तथा ५. चेतना (मन की वह चेष्टा, जिसके रहने पर चित्त आलम्बन की ओर स्वत: झुकता है)। इनमें वेदना आलय विज्ञान का मुख्य सहायक धर्म है। उपेक्षा भाव के रूप में हम उसकी व्याख्या कर सकते हैं। यह उपेक्षा (तटस्थता की भावना) सुख-दु:खात्मक दोनों स्थितियों से ऊपर उठकर सभी प्राणियों को निर्वाण तक पहुँचाने में समर्थ होती है। जिस विज्ञान का विलास यह समस्त विश्व है, यह वही आलय विज्ञान है। इस विज्ञानवाद से तान्त्रिक दर्शन अत्यधिक प्रभावित है।

विज्ञानवादी योगाचार के नाम से भी जाने जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि आलय विज्ञान के स्वरूप को जानने के लिए योग के अभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है। जिज्ञासा और सदाचार इसके आवश्यक अंग हैं। इन सब पर आग्रहशील होने के कारण यह मत इस नाम से विख्यात है।

३. सौत्रान्तिक मत

प्रारम्भिक बौद्धधर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त था—सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक। सौत्रान्तिक अभिधर्म के बुद्ध रचित न होने से उसे प्रामाणिक नहीं मानते। उनका कहना है कि तथागत के आध्यात्मिक उपदेश सूत्र पिटक के ही कतिपय सूत्रों (सूत्रान्तों) में संनिविष्ट हैं। अभिधर्म बुद्धवचन न होने से भ्रान्त हो सकते हैं, परन्तु सूत्रान्त बुद्ध की वास्तविक शिक्षा का भण्डार होने से पूरी तरह से प्रामाणिक हैं। यही इस मत की मान्यता है। इसी के आधार पर इस सम्प्रदाय का नाम **सौत्रान्तिक** पड़ा है। कुमारलात श्रीलात, धर्मलात, बुद्धदेव, वसुमित्र, यशोमित्र जैसे आचार्य इसी मत के अनुयायी माने जाते हैं।

बाह्यार्थानुमेय वाद

सौत्रान्तिकों के मुख्य सिद्धान्तों को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—**१. काल** के विषय में ये लोग केवल वर्तमान काल की सत्यता को स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत वैभाषिक भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालों के अस्तित्व को मान्यता देते हैं। इसी लिए ये सर्वास्तिवादी कहलाते हैं। **२. ज्ञान** के विषय में ये **स्वत:प्रामाण्यवादी** हैं। जिस प्रकार प्रदीप अपने को स्वयं प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी स्वयं प्रकाश्य है। स्वसंवित्ति या स्वसंवेदन का यह सिद्धान्त विज्ञानवादियों और प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुयायियों को भी मान्य है।

३. वैभाषिकों के विपरीत ये लोग बाह्य जगत् की सत्ता को प्रत्यक्ष न मान कर अनुमानगम्य मानते हैं। जब समस्त पदार्थ क्षणिक हैं, तब किसी भी वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष कैसे सम्भव होगा? जिस क्षण में किसी वस्तु के साथ हमारी इन्द्रियों का सम्पर्क होता है, उस क्षण में वह क्षणिक वस्तु अतीत के गर्भ में चली गई रहती है, केवल उससे उत्पन्न विज्ञान ही शेष रह जाता है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों के नील-पीत आदि बुद्धि वाले चित्र उसके मन पर खिंच जाते हैं। इन्हीं चित्रों की सहायता से इनके उत्पादक बाह्य पदार्थों की सत्ता का अनुमान किया जाता है। अतः बाह्यार्थ की सत्ता प्रत्यक्षगोचर न हो कर अनुमान से सिद्ध होती है। ४. बाह्य वस्तु सत् है, परन्तु इसके आकार के विषय में इनमें परस्पर मतभेद हैं। कुछ आचार्य मानते हैं कि पदार्थ स्वयं साकार है, अन्य विद्वानों का कहना है कि पदार्थ में आकार चित्त से विनिर्मित हैं, अर्थात् वस्तु में अपना कोई आकार नहीं होता, लेकिन चित्त ही वस्तु पर आकार आरोपित करता है। ऐसे भी आचार्य हैं, जो वस्तु के आकार को उभयात्मक मानते हैं। ५. परमाणुवाद के विषय में सौत्रान्तिकों का अपना विशिष्ट मत है। परमाणुओं में पारस्परिक स्पर्श का सर्वथा अभाव रहता है। परमाणु स्वयं निरवयव होते हैं, अतः स्पर्श अवयवों का न होकर समस्त वस्तु का ही होगा। ऐसी दशा में एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिल कर जब एक हो जायेंगे, तो परमाणुओं का संघात परमाणु के परिणाम से अधिक न हो सकेगा। परमाणु-विषयक सौत्रान्तिक दृष्टि का खण्डन वात्स्यायन के न्यायभाष्य (४.२.२२-२५) में देखा जा सकता है। ६. विनाश का कोई हेतु नहीं है, सभी पदार्थ स्वभाव से ही विनाशशील हैं; वे अनित्य नहीं हैं, लेकिन क्षणिक हैं। पुरुष तथा आकाश सत्ताहीन पदार्थ हैं, ये वस्तुतः सत्य नहीं है। क्रिया, वस्तु तथा क्रियाकाल—तीनों में किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं है। वस्तु असत् से उत्पन्न होती है, एक क्षण तक रहती है और फिर विलीन हो जाती है। ऐसी स्थिति में भूत और भविष्य की सत्ता कैसे मानी जा सकती है?

ऊपर बतलाया गया है कि सौत्रान्तिक बाह्यार्थानुमेयवादी हैं। यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व नहीं माना जायेगा, तो 'घट ज्ञान' और 'पट ज्ञान' में कोई अन्तर नहीं होगा, क्योंकि ज्ञानरूप होने के कारण घट का और पट का ज्ञान एक ही होगा। लेकिन इनकी एकता नहीं मानी जाती। स्पष्ट है कि इन दोनों में वस्तु-सम्बन्धी भेद है। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व मानना बहुत जरूरी है। बाह्य वस्तुओं के आकार में भिन्नता है, फलतः उनका ज्ञान भी भिन्न-भिन्न आकार का होगा। इन विभिन्न आकारों के ज्ञान से ही हम उनकी कारणभूत बाहरी वस्तुओं की सत्ता का अनुमान कर सकते हैं। इसीलिए सौत्रान्तिक बाह्य वस्तु को मानते हैं और उसकी सत्ता को अनुमान से सिद्ध करते हैं।

४. वैभाषिक मत

इस मत के अनुसार जिस जगत् का अनुभव हमें अपनी इन्द्रियों के द्वारा हो रहा है, उसकी बाह्य सत्ता अवश्य ही है। हमारे भीतर चित्त की भी सत्ता स्वतन्त्र रूप से है। बाहरी पदार्थों की सत्ता चित्त-निरपेक्ष है, हम अपनी इन्द्रियों की सहायता से बाहरी पदार्थों की सत्ता प्रत्यक्ष रूप से मानते हैं, अर्थात् बाह्य और आन्तर पदार्थ स्वतन्त्र रूप से पृथक् सत्ता धारण करते हैं।

वैभाषिक सम्प्रदाय का सर्वमान्य ग्रन्थ 'अभिधर्म ज्ञान-प्रस्थान शास्त्र' है, जिसका कात्यायनीपुत्र ने बुद्ध के परिनिर्वाण के तीन सौ वर्ष बाद निर्माण किया था। इसका संस्कृत मूल उपलब्ध नहीं है, परन्तु इसके चौथी तथा सातवीं शताब्दी के चीनी भाषा के अनुवाद आज भी उपलब्ध हैं। कनिष्क के समय चतुर्थ संगीति में इस ग्रन्थ पर 'अभिधर्म-विभाषाशास्त्र' के नाम से एक भाष्य-ग्रन्थ की रचना हुई। मूल संस्कृत-ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, परन्तु इसके तिब्बती और चीनी अनुवाद उपलब्ध हैं। इसी विभाषाशास्त्र के आधार पर प्रतिष्ठित होने से इस सम्प्रदाय का नाम वैभाषिक पड़ा।

वसुबन्धु का अभिधर्मकोश इस सम्प्रदाय की प्रामाणिक तथा मौलिक रचना है। वसुबन्धु मूलतः पुरुषपुर (पेशावर) के निवासी थे, किन्तु प्रौढ़ावस्था में इन्होंने अयोध्या को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। इनके अभिधर्मकोश की चर्चा बाणभट्ट ने हर्षचरित्र में की है और इस ग्रन्थ पर सियामति दिङ्नाग, यशोमित्र जैसे विद्वानों ने बहुमूल्य टीकाएँ लिखी हैं। इस पूरे ग्रन्थ का आचार्य नरेन्द्र देव ने सभाष्य हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है।

बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद

वैभाषिकों के अनुसार यह नानात्मक जगत् वस्तुतः सत्य है। इसकी स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा होता है। बाह्य तथा आभ्यन्तर द्विविध भेद की कल्पना कर वैभाषिक भौतिक तथा मानसिक द्विविध जगत् की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। वस्तु विभाग दो तरह से किया जाता है—विषयीगत तथा विषयगत। पंच स्कन्ध, द्वादश आयतन और अष्टादश धातु का अन्तर्भाव प्रथम विभाग में तथा सास्रव-अनास्रव, संस्कृत-असंस्कृत धर्मों का द्वितीय विभाग में। इनमें से पंच स्कन्ध और द्वादश आयतन का परिचय पहले दिया जा चुका है। जिन शक्तियों के एकीकरण से घटनाओं का एक प्रवाह या सन्तान निष्पन्न होता है, उन्हें **धातु** कहते हैं। इनकी संख्या १८ है। इनमें पहले बारह आयतन हैं तथा शेष छः चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान और मनोविज्ञान नामक धातु हैं। वैभाषिक प्रत्येक सत्तात्मक पदार्थ को धर्म कहते हैं।

सास्रव (मलसहित) और निरास्रव (मलरहित, विशुद्ध) के भेद से धर्म दो प्रकार के होते हैं। मलसहित धर्मों की दूसरी संज्ञा संस्कृत है। ये हेतु तथा प्रत्यय से उत्पन्न होते हैं। असंस्कृत धर्म को अनास्रव (विशुद्ध) तथा मार्गसत्य भी कहा जाता है। ये धर्म हेतु-प्रत्यय जनित न होने से नित्य हैं। ये तीन हैं—आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध तथा अप्रतिसंख्यानिरोध। वैभाषिक नित्य, निर्विशेष, अनन्त सर्वव्यापक सत्तात्मक आकाश की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इनके मत से यह एक असंस्कृत धर्म है। प्रतिसंख्या (प्रज्ञा) के द्वारा उत्पन्न सास्रव धर्मों का पृथक् पृथक् निरोध (परित्याग) करना प्रतिसंख्या निरोध तथा बिना प्रज्ञा के ही स्वाभाविक रूप से निरोध का सम्पन्न होना अप्रतिसंख्या निरोध है। एक बार मलों का निरोध हो जाने पर भविष्य में उनकी उत्पत्ति की सम्भावना नहीं रहती। इस स्थिति में जीव भवचक्र से मुक्ति पा जाता है।

संस्कृत धर्म

संस्कृत धर्म के चार मुख्य भेद हैं—रूप, चित्त, चैतसिक तथा चित्त-विप्रयुक्त। **१. रूप** का अर्थ है भूत, अर्थात् वह धर्म, जो रूप धारण करे। रूप वह पदार्थ है, जो अवरोध पैदा करे। इसके ११ भेद हैं—पाँच चक्षु आदि इन्द्रियाँ, पाँच इनके विषय तथा ११वाँ अविज्ञप्ति। **अविज्ञप्ति** वही तत्त्व है, जिसे वैशेषिक **अदृष्ट** के नाम से और मीमांसक **अपूर्व** के नाम से पुकारते हैं। साधारण रूप में जिसे हम जीव कहते हैं, उसे ही बौद्ध दार्शनिक **चित्त** की संज्ञा देते हैं। चित्त की सत्ता तभी तक है, जब तक इन्द्रियों तथा उनके विषयों में घात-प्रतिघात होता रहता है। चित्त, मन तथा विज्ञान समानार्थक शब्द है। **मन** का अर्थ है किसी वस्तु को नापने वाला, वस्तु का निश्चय करने वाला। **चित्त** का अर्थ है किसी वस्तु का सामान्य ज्ञान (आलोचनात्मक या निर्विकल्पक ज्ञान)। यही चित्त जब वस्तुओं के ग्रहण में प्रवृत्त होता है, तब उसे **विज्ञान** कहते हैं। प्रत्येक चित्त प्रतिक्षण बदलता रहता है। वह कार्यकारण के नियम के अनुसार नवीन रूप धारण करता है। **३. चैतसिक** (या चैत्तधर्म)—चित्त से सम्बन्ध रखने वाले धर्म या संस्कार चैतसिक या चित्त-संप्रयुक्त कहलाते हैं। **४. चित्त-विप्रयुक्त**—जिन धर्मों का समावेश न तो भौतिक धर्मों के भीतर किया जाता है और न चैत धर्मों में ही, उन्हें इस नाम से पुकारते हैं। इनका अन्वर्थक नाम है—रूपचित्त-विप्रयुक्त, अर्थात् रूप और चित्त से पृथक् रहने वाले धर्म। इन सब संस्कृत और असंस्कृत धर्मों के ७५ भेद शास्त्रों में वर्णित हैं।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये चार भूत हैं। आकाश की गणना यहाँ भूतों में नहीं की जाती। वह एक असंस्कृत धर्म है। पृथ्वी आदि चार भूतों के अन्तिम उपादान अणु हैं, जो चार प्रकार के होते हैं। पार्थिव परमाणु कठिन-

स्वभाव, जलीय स्निग्ध, तैजस उष्ण और वायवीय चलन-स्वभाव है। "षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता" इस वचन के अनुसार यहाँ परमाणु षडंश माना गया है।

ज्ञान के दो साधन हैं—ग्रहण और अध्यवसाय। **ग्रहण** के द्वारा पदार्थ के सामान्य रूप का ज्ञान होता है। वस्तु को नाम-जाति आदि की कल्पना से संयुक्त करना **अध्यवसाय** कहलाता है। "इस पदार्थ का नाम गौ है, यह काले रंग की है" इस तरह के विशेष ज्ञान को अध्यवसाय कहा जाता है। ग्रहण और अध्यवसाय को हम न्याय-वैशेषिक दर्शन के निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान से समरस कर सकते हैं।

इस प्रकार हमने यहाँ माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक नाम से प्रसिद्ध बौद्धों के चार दार्शनिक सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है। इनमें से शून्यतावादी माध्यमिकों की शांकर अद्वैतवाद से, विज्ञानवादी योगाचारों की प्राभाकर मीमांसक एवं तान्त्रिक दर्शनों से तथा सौत्रान्तिकों एवं वैभाषिकों की न्याय-वैशेषिक दर्शन से तुलना की जा सकती है। इस प्रकार हमने यहाँ बौद्ध दर्शन के प्रायः सभी प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय दिया है। अब केवल निर्वाण के स्वरूप पर विचार करना है।

निर्वाण

आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने ग्रन्थ "बौद्ध धर्म-दर्शन" के १४वें अध्याय में निर्वाण के विषय में विस्तार से विचार किया है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों के निर्वाण-विषयक विचारों को प्रस्तुत करते हुए आचार्य जी ने उक्त चतुर्विध बौद्धों द्वारा निर्णीत निर्वाण के स्वरूप को भी प्रस्तुत किया है। निर्वाण की कल्पना, निर्वाण का स्वरूप, निर्वाण का मुख्य आकार, निर्वाण के विभिन्न प्रकार, निर्वाण का नया स्वरूप, निर्वाण के भेद—जैसे विषयों पर भी यहाँ विचार किया गया है (पृ० २७८-३०८)। बौद्धों का निर्वाण या मोक्ष अन्य दर्शनों में अमृतपद, निःश्रेयस, मुक्ति, कैवल्य, अपवर्ग, परमव्योम, महाविभूति जैसे शब्दों के माध्यम से व्याख्यात है। हम कह सकते हैं कि प्रत्येक दर्शन के मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ का अपना स्वरूप है और प्रायः निर्विवाद रूप से यह मान्य है कि धर्म नामक प्रथम पुरुषार्थ से नियन्त्रित अर्थ और काम नामक द्वितीय एवं तृतीय पुरुषार्थ का सेवन करने वाला व्यक्ति ही मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ का अधिकारी बन सकता है।

हमने अपने ग्रन्थ "भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप" (पृ० २७-३८) में कुछ दार्शनिकों के मोक्ष विषयक विचारों को प्रस्तुत किया है। सर्वदर्शन संग्रह के बौद्धदर्शन प्रकरण के अन्त में बताया गया है कि राग-द्वेष आदि दोषों के ज्ञान

की परम्परा के कारण चली आ रही वासनाओं का उच्छेद (नाश) हो जाने पर व्यक्ति मुक्ति लाभ (निर्वाण को प्राप्त) करता है। मुक्ति का यह स्वरूप सभी चतुर्विध बौद्ध दार्शनिकों को मान्य है। हम मान सकते हैं कि धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप को अंगीकार कर अर्थ और काम की दुर्वासनाओं को त्याग देने वाले व्यक्ति का चित्त बोधि को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में निर्वाण के नाम से यह जाना गया है। प्रदीप (दीपक) के निर्वाण (बुझ जाना) को यहाँ उदाहरण के लिए प्रस्तुत किया जाता है। दीपक स्नेह (तेल) के खत्म हो जाने पर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है, बुझ जाता है, उसी तरह से जीव भी स्नेह (सांसारिक राग) के समाप्त हो जाने पर निर्वाण (मुक्ति) को प्राप्त कर सकता है।

निर्वाण की कल्पना

भारत को छोड़ कर पूरा जागतिक साहित्य स्वर्ग और नरक की कल्पना तक ही सीमित है। सामान्य जन, चाहे वह गृही हो या श्रमण, स्वर्ग की कामना से संतुष्ट रहता था। कोई स्वर्ग की अप्सराओं को पाने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता था तो अन्य अलौकिक सिद्धियों के लाभ के लिए ध्यान में लग जाता था। इनके स्थान पर यथार्थ भिक्षु अध्रुव से ध्रुव का अन्वेषण करता है। मोक्ष की एक अति प्राचीन और लाक्षणिक संज्ञा **अमृत** है। मोक्ष एक प्रकार की चेतो- विमुक्ति है। इसी स्थिति में कुमार सिद्धार्थ को बोधि प्राप्त हुई और वे बुद्ध कहलाये। बुद्धत्व की प्राप्ति के बाद शाक्यमुनि का जो पहला उद्गार था, वह यह था कि उन्होंने अमृतपद पा लिया है। उपनिषत् साहित्य में भी हम इसका वर्णन देखते हैं। बौद्ध साहित्य में इसी को निर्वाण, निरोध, परमक्षेम, विराग जैसे नाम दिये गये हैं। इसमें सभी प्रकार के सुख-दुःख से, स्वर्ग-नरक से ऊपर उठ जाने की कल्पना काम कर रही थी।

निर्वाण का स्वरूप

निर्वाण का सबसे मुख्य आकार **क्षय** का है। वस्तुतः निर्वाण निरोध है। यह तृष्णा-क्षय और दुःख-निरोध है। आर्य समाधि में इसका दर्शन करते हैं, किन्तु यदि तत्त्व का साक्षात्कार केवल समाधि की अवस्था में होता है, तो वह वाणी का विषय नहीं हो सकता। शास्ता ने इसे मुख्यतः **निरोध** कहा है। यह द्रव्य है, कुशल है, नित्य है। इसे निरोध, विसंयोग कहते हैं। निरोध वस्तु-सत् है। निरोध केवल एक आकार है। निर्वाण के अन्य आकार शान्त, प्रणीत, निःसरण हैं। निरोध द्रव्य है, अभाव नहीं है। निर्वाण सुख है, शान्त है, प्रणीत है। जो उसे दुःखवत् देखता है, उसके लिए मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

मिलिन्दप्रश्न में बताया गया है कि उसका लक्षण स्वरूपत: नहीं बताया जा सकता, किन्तु गुणत: दृष्टान्त के रूप में कुछ कहा जा सकता है, जैसे जल पिपासा (प्यास) को शान्त करता है, उसी तरह निर्वाण त्रिविध भवतृष्णा का क्षय करता है।

शास्त्रों में सोपधि-शेष और निरुपधि-शेष नामक दो प्रकार के निर्वाण वर्णित हैं। पहली जीवन्मुक्त की अवस्था है। इस अवस्था में अर्हत् को शारीरिक दु:ख भी होता है। दूसरा निर्वाण वह है, जिसमें मृत्यु के बाद अर्हत् का अवसान होता है। इन दोनों से उन्नत अप्रतिष्ठित निर्वाण की स्थिति है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् शास्ता समस्त जागतिक प्राणियों के दु:ख का निवारण करने के लिए स्वयं निर्वाण में प्रतिष्ठित नहीं होते। **क्या वर्तमान विश्व में करुणामूर्ति का यह संदेश प्रभावी हो पायेगा ?**



संस्कृति तथा दर्शन

एक विश्व : एक संस्कृति	डॉ. व्रजवल्लभ द्विवेदी
साधना और सिद्धि	पद्मश्री डॉ. कपिलदेव द्विवेदी
बृहत श्लोक संग्रह (सर्वधर्म समभाव)	सं. प्रो. कल्याणमल लोढ़ा
सनातन हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म	श्यामसुन्दर उपाध्याय
धर्म, दर्शन और विज्ञान में रहस्यवाद	प्रो. कल्याणमल लोढ़ा
भारतीय समाज एवं संस्कृति : परिवर्तन की चुनौती	डॉ. सत्यप्रकाश मित्तल
प्राचीन भारतीय कला में मांगलिक प्रतीक	डॉ. विमलमोहिनी श्रीवास्तव
महाभारत का काल निर्णय	डॉ. मोहन गुप्त
भारतीय संस्कृति की रूपरेखा	डॉ. पृथ्वीकुमार अग्रवाल
भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व (संस्कार, वर्णाश्रम व्यवस्था, पुरुषार्थ चतुष्टय)	डॉ. व्रजवल्लभ द्विवेदी
समाजदर्शन की भूमिका	डॉ. जगदीशसहाय श्रीवास्तव
प्राचीन भारतीय समाज और चिन्तन	डॉ. चन्द्रदेव सिंह
हिन्दू समाज : संघटन और विघटन	डॉ. पुरुषोत्तम गणेश सहस्रबुद्धे
सोमतत्त्व	प्रो. कल्याणमल लोढ़ा
वेद व विज्ञान	स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
जपसूत्रम्	स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
विकासवाद और श्री अरविन्द	डॉ. जयदेव सिंह
अरविंद-दर्शन की भूमिका	एस. के. मैत्रा
भारतीय धर्म साधना	म. म. पं. गोपीनाथ कविराज



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

ISBN : 81-7124-336-3

मूल्य : साठ रुपये